खंड २

आचार्य वसुबन्धुकृत

# अभिधर्मकोश

[ लुई द ला वाले पुसैं के फ़्रेंच में सटिप्पण अनुवाद का भाषान्तर ]

नरेन्द्रदेव

प्रथम कोशस्थान

हिंदुस्तानी एकेडेमी, उत्तर प्रदेश, इलाहाबाद

# अभिधर्मकोश

## २

# धातुनिर्देश

य: सर्वथा सर्वहतान्धकार:
संसारपंकाज्जगदुज्जहार ।
तस्मै नमस्कृत्य यथार्थशास्त्रे
शास्त्रं प्रवक्ष्याम्यभिधर्मकोशम् ॥१॥

[ १ ] १. जिन्होंने सर्व अन्धकार का सर्वथा विनाश किया है, जिन्होंने संसार-पंक से जगत् का उद्धार किया है, उन यथार्थ शास्ता को मैं अभिधर्मकोश नामक शास्त्र के प्रवचन के पूर्व, नमस्कार करता हूँ।[१]

शास्त्र-प्रणयन की इच्छा से अपने शास्ता के माहात्म्य को विज्ञापित करने के लिए आचार्य गुणाख्यान-पूर्वक उनके प्रति नमस्कारारम्भ करते हैं।

"उन्होंने सर्व अन्धकार का विनाश किया है" अर्थात् उनके द्वारा या उनका, सर्व अर्थों के विषय में, सर्व ज्ञेयों के विषय में, अन्धकार हत हुआ है।

"अन्धकार" अर्थात् अज्ञान, क्योंकि अज्ञान भूतार्थ-दर्शन में प्रतिबन्ध है।

"सर्वथा" अर्थात् इस प्रकार जिसमें उसका पुनरनुत्पत्तिधर्मत्व हो जाए।

बुद्ध भगवत्[२] को अधिकृत कर "य:" शब्द प्रयुक्त है,

[ २ ] क्योंकि उन्होंने ही अज्ञान-प्रतिपक्ष (५.६०) के लाभ से सर्व अज्ञान का सर्वथा अत्यन्त विनाश किया है।

---

१ य: सर्वथा सर्वहतान्धकार: संसारपंकाज्जगदुज्जहार।
तस्मै नमस्कृत्य यथार्थशास्त्रे शास्त्रं प्रवक्ष्याम्यभिधर्मकोशम्॥ [व्याख्या १.१९]

२ विनयविभाषाकार चार कोटि बताते हैं: (१) एक बुद्ध हैं जो भगवान् नहीं हैं अर्थात् प्रत्येक-बुद्ध। यह बुद्ध हैं क्योंकि यह स्वयंभू हैं अर्थात् इन्होंने स्वयं बोधि का लाभ किया है। यह भगवान् नहीं हैं क्योंकि इनका दानादि (दान-पारमिता आदि) (७.३४) संभार अपरिपूर्ण है। (२) एक भगवान् हैं जो बुद्ध नहीं हैं अर्थात् चरमभविक बोधिसत्त्व। (३) एक बुद्ध और भगवान् दोनों ही हैं। (४) ऐसे भी पुद्गल (प्राणी) हैं जो न बुद्ध हैं और न भगवान्। [व्याख्या ३.१२]——यह भी कह सकते हैं कि श्रावक बुद्ध हैं (आर्यदेव, शतक, २७०) क्योंकि वे बोधि का लाभ करते हैं (६.६७)।

प्रत्येकबुद्ध और श्रावकों ने भी सर्व अन्धकार को हत किया है क्योंकि क्लिष्ट सम्मोह का उनमें अत्यन्त विगम हुआ है। किन्तु उन्होंने अन्धकार का सर्वथा विनाश नहीं किया है क्योंकि अक्लिष्ट सम्मोह का उनमें समुदाचार होता है[1] : वह बुद्ध-धर्मों को (७.२८),[2] अति विप्रकृष्ट देश और अति विप्रकृष्ट काल के अर्थों को (७.५५)[3] और अर्थों के अनन्त प्रभेदों को[4] नहीं जानते।

आत्महित-प्रतिपादक संपत्ति (आत्महित-प्रतिपत्ति-सम्पत्) की दृष्टि से भगवत् का इस प्रकार गुणाख्यान कर आचार्य परहित-प्रतिपत्तिसम्पत् की दृष्टि से उनका स्तवन करते हैं: "उन्होंने संसार-पंक से जगत् का उद्धार किया है।" संसार पंक है क्योंकि जगत् का वह आसंग-स्थान है, क्योंकि उसका उत्तरण दुस्तर है। भगवत् ने इस पंक में जगत् को अत्राण अवमग्न देख, उन पर अनुकम्पा कर, उनको सद्धर्मदेशना[5] का हस्त प्रदान कर, यथाभव्य[6] उनका पंक से उद्धार किया।

[३] "इस यथार्थशास्ता को"[1] यथार्थ के शास्ता को, क्योंकि यह अविपरीत भाव से यथाभूत का उपदेश देते हैं, मैं शिर से प्रणाम कर नमस्कार करता हूँ। भगवत् को इस प्रकार

---

१ वास्तव में प्रत्येकबुद्ध और श्रावकों ने अक्लिष्ट अज्ञान का प्रहाण किया है जैसे उन्होंने छन्दराग के प्रहाण से चक्षुरादि इन्द्रिय का प्रहाण किया है। किन्तु यह अक्लिष्ट अज्ञान चक्षुरादिवत् प्रहीण होने पर ही उनमें समुदाचार करता है। बुद्ध में ऐसा नहीं होता। इसीलिए आचार्य कहते हैं कि उन्होंने अन्धकार को इस प्रकार हत किया है कि उसका पुनरनुत्पत्तिधर्मत्व सिद्ध होता है। [व्याख्या ४.१९]

२ शारिपुत्र तथागत के (शीलादि) पंच स्कन्ध को नहीं जानते। [व्याख्या ४.३३]

३ मौद्गल्यायन नहीं जानते कि मरीचि–("मारीची"—व्याख्या ५.७) लोकधातु में उनकी माता पुनरुत्पन्न हुई हैं। [व्याख्या ५.७]
शारिपुत्र प्रव्रज्यापेक्ष पुरुष (७.३० देखिए) के कुशल-मूल नहीं देख पाए, किन्तु बुद्ध ने कहा—

मोक्षबीजमहं ह्यस्य सुसूक्ष्ममुपलक्षये।
धातुपाषाणविवरे निलीनमिव कांचनम्॥

ह्यबर, सूत्रालंकार, पृ. २८६ से तुलना कीजिए।

४ जैसा गाथा में कहा है—

सर्वाकारं कारणमेकस्य मयूरचन्द्रकस्यापि।
नासर्वज्ञैर्ज्ञेयं सर्वज्ञज्ञानबलं हि तत्॥ [व्याख्या ५.१६]

[व्याख्या में चतुर्थ चरण का पाठ 'सर्वज्ञबलं हि तज्ज्ञानम्' है। ५.१७]

५ व्याख्या ६.५ में 'सद्धर्म-देशना-हस्त-प्रतानैः' पढ़िए।
[व्याख्या ६.५ में प्रतानैः के स्थान में प्रदानैः पाठ है।) उत्तारणीय पुद्गल अनेक हैं। इस लिए बहुवचन का प्रयोग ह।

६ यथाभव्य—'यथासंभव'। बिना कहे ही यह गमित होता है। यथा जब लोक में कहते हैं "उसने ब्राह्मणों को भोजन कराया" तो इसका यह अर्थ नहीं होता कि उसने सकल लोक के ब्राह्मणों को भोजन कराया।

१ आर्यदेव, शतक, २६५ में यह पद है।

विशेषित कर आचार्य भगवत् के परहित-प्रतिपादन (प्रतिपत्ति) के उपाय को आविष्कृत करते हैं। भगवत् शास्ता ने, यथार्थ अनुशासनी से, न कि ऋद्धि-प्रभाव से या वर-प्रदान से,[२] संसार-पंक से उद्धार किया है।

इस यथार्थशास्ता को नमस्कार कर आचार्य क्या करेंगे ?

"मैं शास्त्र का प्रवचन करूँगा।" जो शिष्य का शासन करता है और उनको शिक्षा देता है वह 'शास्त्र' कहलाता है। किस शास्त्र का ? अभिधर्मकोश का।

**प्रज्ञाऽमला सानुचराऽभिधर्म**
**स्तत्प्राप्तये यापि च यच्च शास्त्रम्।**
**तस्यार्थतोऽस्मिन् समनुप्रवेशात्**
**स वाश्रयोऽस्येत्यभिधर्मकोशः ॥२॥**

यह अभिधर्म क्या है ?

२. ए. अपने अनुचर के साथ अमला प्रज्ञा अभिधर्म है।[३] प्रज्ञा जिसका व्याख्यान नीचे (२.२४, ७.१) करेंगे धर्मों का प्रविचय है।[४]

अमला प्रज्ञा अनास्रव प्रज्ञा है।[५]

जिसे प्रज्ञा का 'अनुचर' कहते हैं वह उसका परिवार अर्थात् प्रज्ञा के सहभू-धर्म अनास्रव पंचस्कंधक (१.७ ए) हैं।[६]

---

२ न त्वर्द्धिवरप्रदानप्रभावेन। [व्याख्या ७.२५] प्रथम विवेचन : ऋद्धि के प्रभाव से, (७.४८) यथा विष्णु; वर-प्रदान के प्रभाव से, यथा महेश्वर। द्वितीय निरूपण—ऋद्धि से, वर-प्रदान से, अपने प्रभाव से (७.३४)।
यह ठीक है कि बुद्ध कभी विनेय जन के आवर्जन मात्र के लिए ऋद्धि-प्रातिहार्य दिखाते हैं किन्तु अनुशासनी-प्रातिहार्य से वह क्लेशों का क्षय कर (७.४७ ए-बी) जगत् की रक्षा करते हैं। [व्याख्या ७.३०]

३ प्रज्ञामला सानुचराभिधर्मः। [व्याख्या ८.११]

४ धर्माणां प्रविचयः—धर्म पुष्पों के समान व्यवकीर्ण हैं। उन्हें चुनते हैं (प्रविचीयन्ते, उच्चीयन्ते) और स्तवकों में रखते हैं: यह अनास्रव हैं, यह सास्रव हैं इत्यादि।
धर्म-प्रविचय-काल में एक चित्त-संप्रयुक्त (चैत्त, चैतसिक) (२.२३) धर्म-विशेष का, जिसे प्रज्ञा कहते हैं, प्राधान्य होता है। अतः प्रज्ञा का लक्षण 'धर्म-प्रविचय' है।

५ 'मल' आस्रव का पर्याय है। हम 'अनास्रव' के लिए 'प्योर' शब्द का व्यवहार करेंगे। आस्रवों का लक्षण ५.३५ में दिया है। नीचे १.४ देखिए।

६ अभिधर्म शब्द से केवल अनास्रव प्रज्ञा ही न समझना चाहिए जो वस्तु-स्वभाव का प्रविचय करती ह किन्तु चित्त-सन्तान के उस क्षण के सब अनास्रव स्कन्धों को भी समझना चाहिए जिस क्षण में यह प्रज्ञा उत्पन्न होती है : वेदनादि (१.१४ सी)। इस कलाप में एक रूप-स्कन्ध है। इसे 'अनास्रव-संवर' (४.१३ सी) कहते हैं।

[ ४ ] यह पारमार्थिक[1] अभिधर्म है।

२ बी. अमला प्रज्ञा की प्राप्ति के लिए जिस प्रज्ञा और जिस शास्त्र की आवश्यकता है वह भी अभिधर्म है।[2]

व्यवहार में अभिधर्म शब्द से वह प्रज्ञा भी ज्ञापित होती है जिससे पारमार्थिक अभिधर्म का लाभ होता है: सास्रवा प्रज्ञा जो उपपत्तिप्रतिलम्भिका (सहजा) या प्रयोगजा अर्थात् श्रुतमयी, चिन्तामयी, भावनामयी प्रज्ञा (२.७१ सी) है अपने अनुचर के साथ सांकेतिक अभिधर्म कहलाती है।[3]

शास्त्र[4] भी पारम्पर्येण अभिधर्म कहलाता है क्योंकि शास्त्र भी अनास्रव-प्रज्ञा का प्रापक है। इसलिए यह पारमार्थिक अभिधर्म में हेतु है।

धर्म वह है "जो स्वलक्षण धारण (मध्यमक वृत्ति, ४५७; सिद्धि ४,५६८ देखिए) करता है।"

अभिधर्म को 'अभि-धर्म' इसलिए कहते हैं, क्योंकि यह उस धर्म के अभिमुख है जो परम ज्ञान का अर्थ है अथवा यह सब धर्मों में अग्र या परमार्थ निर्वाण के अभिमुख है अथवा यह धर्मों के स्वलक्षण और सामान्य लक्षणों के अभिमुख है।

इस शास्त्र को अभिधर्मकोश क्यों कहते हैं?

२ सी-डी. क्योंकि अभिधर्म का इसमें अर्थतः अनुप्रवेश है अथवा

[ ५ ] अभिधर्म इसका आश्रय है इसलिए इस शास्त्र को अभिधर्मकोश कहते हैं।[1]

जिस शास्त्र की संज्ञा अभिधर्म है अर्थात् अभिधर्मपिटक, वह इस शास्त्र में अर्थतः, यथाप्रधान अन्तर्भूत है। इसलिए यह अभिधर्मकोश है, अभिधर्म का कोशस्थानीय है। अथवा वह अभिधर्म इस शास्त्र का आश्रयभूत है। इसलिए हम कह सकते हैं कि यह शास्त्र अभिधर्म से निराकृष्ट है यथा खड्ग कोश से निराकृष्ट होता है। अतः इस शास्त्र को अभिधर्मकोश कहते हैं अर्थात् वह शास्त्र जिसका कोश अभिधर्म है।

---

१ व्याख्या [८.२७]—परमार्थ एव पारमार्थिकः। परमार्थे वा भवः पारमार्थिकः। परमार्थेन वा दीव्यति चरतीति पारमार्थिकः।

२ तत्प्राप्तये यापि च यच्च शास्त्रम्। [व्याख्या ८.३०, ९.६]

३ सांकेतिक, सांव्यवहारिक अभिधर्म। [व्याख्या ८.२९]

४ शास्त्र अर्थात् (१) अभिधर्म शास्त्र, अभिधर्मपिटक। [व्याख्या ९.७] इस अर्थ में कुछ का कहना है कि शास्त्र के साथ 'सानुचर' का अनुवर्तन नहीं करना चाहिए क्योंकि ग्रंथ का परिवार नहीं होता। कुछ का मत है कि लक्षण (२.४५ सी-डी) अनुचर हैं। (२) अथवा ज्ञानप्रस्थान जो अभिधर्म का शरीर है और उसके पादभूत (और 'अनुचर') ६ ग्रन्थ—प्रकरणपाद, विज्ञानकाय, धर्मकाय, प्रज्ञाप्तिशास्त्र, धातुकाय और संगीतिपर्याय।
(बर्नूफ़, भूमिका, पृ.४४८)

१ तस्यार्थतोऽस्मिन् [व्याख्या १०.३] [सम्] अनुप्रवेशात्।
[सो वृ] आश्रयो [ऽस्येत्य्] अभिधर्मकोशः॥

धर्माणां प्रविचयमन्तरेण नास्ति
क्लेशानां यत उपशान्तयेऽभ्युपायः।
क्लेशैश्च भ्रमति भवार्णवेऽत्र लोक
स्तद्धेतोरत उदितः किलैष शास्त्रा ॥३॥

अभिधर्म के उपदेश का क्या प्रयोजन है? किसने इसका प्रथम उपदेश किया? इन दो प्रश्नों के उत्तर से हम जानेंगे कि अभिधर्मकोश के प्रणयन में आचार्य क्यों आदर प्रदर्शित करते हैं।

३. यतः धर्म-प्रविचय के बिना क्लेशों की शान्ति का कोई उपाय नहीं है और क्लेशों के कारण ही लोक इस भवार्णव में भ्रमित होता है अतएव कहते हैं कि इस प्रविचय के लिए शास्ता ने अभिधर्म का उपदेश किया है।[२]

धर्मो के प्रविचय के बिना क्लेशों के (५. १) उपशम का दूसरा कोई उपाय नहीं है और क्लेश ही लोक को इस संसार रूपी महार्णव में भ्रमित करते हैं। अतएव वैभाषिक[3] कहते हैं कि धर्मों के प्रविचय के लिए शास्ता बुद्ध भगवत् ने अभिधर्म का उपदेश किया है क्योंकि अभिधर्म के उपदेश के बिना शिष्य धर्मों का प्रविचय करने में अशक्त हैं।

[ ६ ] वैभाषिक कहते हैं कि भगवत् ने अभिधर्म का प्रवचन सदा प्रकीर्ण रूप से किया है और जिस प्रकार स्थविर धर्मत्रात ने प्रवचन में प्रकीर्ण उदानों को उदानवर्ग[१] में वर्गीकृत किया है उसी प्रकार आर्य कात्यायनीपुत्र प्रभृति स्थविरों ने सात अभिधर्मों में अभिधर्म को संगृहीत कर स्थापित किया है।[२]

---

२ [व्याख्या १०.२६] धर्माणां प्रविचयमन्तरेण नास्ति क्लेशानां यत उपशान्तयेऽभ्युपायः। [व्याख्या १०.३० में द्वितीय चरणांश यों है—नास्ति क्लेशोपशमाभ्युपायः।] क्लेशैश्च भ्रमति भवार्णवेऽत्र लोकः [व्याख्या ११.२] (तद्धेतोरत उदितः किलैष शास्त्रा)॥ प्रथम दो पंक्तियां नामसंगीति, १३० की टीका (अमृतकणिका) में 'यदुपशान्तये' इस पाठ के साथ उद्धृत हैं। तृतीय पंक्ति व्याख्या में (११.२) उद्धृत है। चतुर्थ व्याख्या के अनुसार व्यवस्थित की गई है।

३ 'किल परमतद्योतने'। 'किल' शब्द दिखाता है कि वसुबन्धु यहां वैभाषिकों का मत देते हैं और यह उनका मत नहीं है। सौत्रान्तिक और वसुबन्धु के अनुसार अभिधर्म बुद्धवचन नहीं है। हम भूमिका में अभिधर्म ग्रन्थों की प्रामाणिकता के प्रश्न का विचार करेंगे। सूत्र और अभिधर्म का विरोध, यथा ३.१०४, ७.२२.

१ उदानवर्ग (तिब्बती सूत्र, २६) के तिब्बती भाषान्तर का अनुवाद डब्ल्यू० राकहिल (लन्दन १८८३) ने किया है और एच० बेक (बर्लिन १९११) ने उसे प्रकाशित किया है। मूल का एक अच्छा भाग तुर्किस्तान में पाया गया है (जे० आर० ए० एस० १९१२ पृ. ३५५-३७७; जे० एस० १९१२, १.३११ में पालि पाठ की इससे समानता दिखाई गई है)—एस० लेवी, जे० एस० १९१२, २.२१५-२२२.

२ जे तकाकुसु—आन दि अभिधर्म लिटरेचर आफ दि सर्वास्तिवादिन्स, जे० पी० टी० एस०, १९०५, पृ.७५.

**सास्रवानास्रवा धर्माः संस्कृता मार्गवर्जिताः।**
**सास्रवा आस्रवास्तेषु यस्मात्समनुशेरते ॥४॥**

वह धर्म कौन हैं जिनका प्रविचय अभिधर्म में उपदिष्ट है?

४. ए—धर्म सास्रव और अनास्रव हैं।[३]

सास्रव धर्म कौन हैं?

४. बी-डी—मार्ग को वर्जित कर अन्य संस्कृत धर्म सास्रव हैं। वह सास्रव हैं क्योंकि वहाँ आस्रव प्रतिष्ठा-लाभ करते हैं।[४]

[७] संस्कृत धर्म का अर्थ १.७ ए, २.४५ सी-डी में है।

आस्रवों पर ५.४० देखिए।

यद्यपि आर्यमार्ग या असंस्कृत धर्म आस्रव-विशेष के, यथा मिथ्यादृष्टि के, आलम्बन हो सकते हैं किन्तु इससे आर्यमार्ग या यह धर्म सास्रव नहीं होते, क्योंकि आस्रव

---

३ सास्रवानास्रवा धर्माः [व्याख्या १२.९]

४ संस्कृता मार्गवर्जिताः। सास्रवा आस्रवास्तेषु यस्मात् समनुशेरते ॥ [व्याख्या १२.२०, १३.१]
मार्ग-संगृहीत संस्कृत धर्मों को वर्जित कर अन्य संस्कृत धर्म सास्रव कहलाते हैं। यह कैसे और क्यों 'सास्रव' हैं?
(१) हम यह नहीं कह सकते कि जो आस्रवों से 'संप्रयुक्त' हैं, वह सास्रव हैं क्योंकि केवल क्लिष्ट चित्त-चैत्तों का आस्रवों से संप्रयोग होता है (१.२३)।
(२) हम यह नहीं कह सकते कि जिनका आस्रवों के साथ उत्पाद (सहोत्पाद) होता है वह सास्रव हैं। उस पक्ष में न वाह्य धर्म (१.३९ ए) सास्रव होंगे और न उस सत्व के पांच उपादान-स्कन्ध (१.८) जिनकी सन्तति में क्लेशों का समुदाचार इस समय नहीं हो रहा है।
(३) हम नहीं कह सकते कि आस्रवों के जो आश्रय हैं, वह सास्रव हैं, क्योंकि ६ आध्यात्मिक आयतन ही आस्रवों के आश्रय होते हैं।
(४) हम यह नहीं कह सकते कि जो आस्रवों के आलम्बन हैं वह सास्रव हैं। इस विकल्प में निर्वाण (निरोधसत्य) भी सास्रव होगा क्योंकि निर्वाण के विषय में भी मिथ्यादृष्टि हो सकती है। इस विकल्प में जब ऊर्ध्व भूमि को अधर भूमि के आस्रव आलम्बन बनायेंगे तब ऊर्ध्व भूमि भी सास्रव होगी। (५.१८ में इन दृष्टियों का विरोध किया है।) अतः आचार्य कहते हैं कि एक धर्म 'सास्रव' कहलाता है जब आस्रव वहां अनुशयन करते हैं (अनुशेरते) अर्थात् वहां पुष्टि-लाभ करते हैं (पुष्टिं लभन्ते) अथवा वहां प्रतिष्ठा-लाभ करते हैं यथा पादतल भूमि पर प्रतिष्ठित हो सकता है, तप्त उपल पर नहीं। 'सास्रव' धर्मों में पुष्टि और प्रतिष्ठा का लाभ कर अनुशय की बहुलता होती है (सन्तायन्ते)। एक दूसरे मत के अनुसार जैसे यह कहने के लिए कि "यह आहार मुझे पथ्य है" "यह आहार मेरे अनुकूल है" (अनुगुणीभवति) लोक में कहते हैं कि "यह आहार मुझे लगता है (मम अनुशेते)" उसी प्रकार आस्रव "इन धर्मों में अनुशयन करते हैं" "इन धर्मों के अनुकूल हैं।" अतएव उन धर्मों को सास्रव कहते हैं जिनके अनुकूल आस्रव हैं अर्थात् मार्गवर्जित संस्कृत। वास्तव में आस्रव से अभिष्यन्दित कर्म से [व्याख्या १३.७] संस्कृत निर्वर्तित होते हैं। अतएव आस्रव उनके अनुकूल हैं [व्याख्या ५.१, १८, २९, ३९, ४० देखिए]। निकाय इसपर एकमत नहीं हैं कि बुद्धकाय सास्रव है या नहीं। (१.३१ डी देखिए)

वहाँ प्रतिष्ठा-लाभ नहीं करते, वहाँ अनुशयन नहीं करते। इसका व्याख्यान पाँचवें कोशस्थान (अनुशयनिर्देश) में करेंगे।

**अनास्रवा मार्गसत्यं त्रिविधं चाप्यसंस्कृतम्।**
**आकाशं द्वौ निरोधौ च तत्राकाशमनावृतिः ॥५॥**

अनास्रव धर्म कौन हैं?

५ ए-बी—मार्गसत्य और तीन असंस्कृत अनास्रव हैं।[1]

तीन असंस्कृत कौन हैं?[2]

[८] ५ सी—आकाश और दो निरोध।[1]

दो निरोध प्रतिसंख्यानिरोध और अप्रतिसंख्यानिरोध हैं। तीन असंस्कृत और मार्ग-सत्य यह अनास्रव धर्म हैं क्योंकि यहाँ आस्रव प्रतिष्ठा-लाभ नहीं करते।

५ डी—आकाश वह है "जो आवृत नहीं करता।"[2]

आकाश अनावरण-स्वभाव है; यहाँ रूप की अबाध गति है। यह रूप से आवृत भी नहीं होता (आव्रियते) क्योंकि आकाश रूप से अपगत नहीं होता।[3]

---

[1] अनास्रवा मार्गसत्यं त्रिविधं चाप्यसंस्कृतम्। [व्याख्या १३.३०]
सत्यदर्शनात्मक और सत्यभावनात्मक धर्मों का समुदाय मार्गसत्य है। (६.२५ डी, ७.३ बी)
असंस्कृतों पर १.४८ बी, २.५५ सी-डी और भूमिका देखिए।

[2] कुछ दार्शनिक यथा वात्सीपुत्रीय कहते हैं कि केवल एक असंस्कृत है अर्थात् निर्वाण। वैशेषिक परमाणु आदि अनेक असंस्कृत मानते हैं [व्याख्या १५.२]।
एक हैं जो तीन असंस्कृत मानते हैं। दूसरे शून्यता को जो 'तथतालक्षण' है (मध्यमक, ७.३३, पृ० १७६) असंस्कृत मानते हैं।
वैसिलीफ़, पृ०२६४, २८२—कथावत्थु, २.९, ६.१-६, १९.५; भावविवेक, नैनजिओ १२३७, २, पृ० २७५, कालम ३.

[1] आकाशं द्वौ निरोधौ च। दो निरोधों पर १.६, २.५५ सी और ५ निरोधों पर १.२० ए-बी देखिए।

[2] तत्राकाशमनावृतिः। [व्याख्या १५.६]

[3] आकाश और आकाशधातु के भेद पर १.२८ देखिए। आकाश नामक असंस्कृत के अभाव पर (सौत्रान्तिकवाद) २.५५ सी-डी देखिए—कथावत्थु, ६.६-७.
आकाश पर 'डाकुमेन्टस आफ़ अभिधर्म' बी० ई० एफ़० ई० ओ० १९३०, २.२७९, ३.१३९, परिशिष्ट देखिए।
आकाश और अन्य असंस्कृतों पर माध्यमिक मत सौत्रान्तिकों के मत से मिलता है। आर्यदेव, शतक, ९.३ में (मध्यमकवृत्ति, ५०५, चतुःशतिका, २०२, एशियाटिक सोसा० आफ बंगाल, ३ पृ.४८३, १९१४) इसका व्याख्यान करते हैं: "जहां रूपान्तर का अभाव है, जहां रूपी धर्मों की उत्पत्ति में कोई प्रतिबन्ध नहीं है। रूपाभाव मात्र के लिए आकाश का व्यवहार होता है क्योंकि भाव वहां अत्यन्त रूप से प्रकाशित होते हैं (भृशमस्यान्तः काशन्ते भावाः—व्याख्या १५.८)। वैभाषिक अभिधर्मशास्त्र में आकाश में वस्तुत्व आरोपित करते हैं। वह यह नहीं देखते कि आगम अवस्तुसत्, अकिंचन के (अवस्तुसतोऽकिंचनस्य) नामधेय मात्र का उपदेश देता है.....।"

**प्रतिसंख्यानिरोधो यो विसंयोगः पृथक् पृथक्।**
**उत्पादात्यन्तविघ्नोऽन्यो निरोधोऽप्रतिसंख्यया ॥६॥**

६.ए-बी—पृथक् पृथक् 'विसंयोग' प्रतिसंख्यानिरोध (२.५५) है।[४]

सास्रव धर्मों से विसंयोग (२.५७ डी) प्रतिसंख्यानिरोध (२. ५५) या निर्वाण है।

[९] प्रतिसंख्यान या प्रतिसंख्या से एक प्रज्ञाविशेष का, अनास्रव प्रज्ञा का, दुःखादि आर्यसत्यों के अभिसमय (साक्षात्कार) का ग्रहण होता है। इस प्रज्ञाविशेष से जिस निरोध की प्राप्ति होती है वह प्रतिसंख्यानिरोध कहलाता है। हम 'प्रतिसंख्याप्राप्य निरोध' कह सकते थे किन्तु मध्यम पद (प्राप्य) का लोप होता है यथा 'गोयुक्त रथ' न कह कर 'गोरथ' कहते हैं। (गोरथ = गोयुक्त रथ)

क्या यह समझना चाहिए कि सब सास्रव धर्मों के लिए एक ही प्रतिसंख्यानिरोध होता है?

नहीं। प्रत्येक विसंयोग पृथक्-पृथक् प्रतिसंख्यानिरोध है। जितने संयोग-द्रव्य होते हैं उतने ही विसंयोग-द्रव्य होते हैं।[१] यदि अन्यथा होता, यदि प्रतिसंख्यानिरोध एक ही होता, तो जिस पुद्गल ने दुःखसत्य-दर्शन से प्रहातव्य क्लेशों के निरोध का लाभ किया है, उसका साक्षात्कार किया है, उसको समुदयादि दर्शन और भावना से प्रहातव्य क्लेशों के निरोध की प्राप्ति भी साथ-साथ होती। उसके लिए शेष क्लेशों के प्रतिपक्षभूत मार्ग की भावना व्यर्थ होगी (विभाषा ३२, ६)। किन्तु क्या यह नहीं कहा है कि "निरोध असभाग है"? इसका यह अभिप्राय नहीं है कि निरोध एक है अथवा एक निरोध दूसरे निरोध का सभाग नहीं हो सकता। इसका यह अर्थ है कि निरोध का कोई सभाग-हेतु नहीं है और न यह किसी दूसरे धर्म का सभाग-हेतु है[२] (२.५२)।

(१०) ६. सी-डी—एक अन्य निरोध जो उत्पाद में अत्यन्त विघ्नभूत है अप्रतिसंख्या-निरोध कहलाता है।[१]

---

[४] प्रतिसंख्यानिरोधो यो विसंयोगः पृथक् पृथक्। कथावत्थु, १९.३ के शास्त्रार्थ से तुलना कीजिए।
सर्वास्तिवादिन् का मत है कि 'क्लेश-विसंयोग' 'क्लेश या अनागत दुःख का निरोध' (विसंयोग, निरोध) वस्तुसत्, धर्मसत्, द्रव्य है। 'विसंयोग' हेतुजनित नहीं है : यह नित्य है। प्रतिसंख्या (सत्याभिसमय) से विसंयोग की प्राप्ति का (२.३६ बी) लाभ होता है।

[१] भगवत् सास्रव द्रव्य को स्तम्भस्थानीय बताते हैं अर्थात् यह वह द्रव्य है जिससे रागद्वेषादि क्लेश संप्रयुक्त हो सकते हैं। क्लेश या संयोजन रज्जुस्थानीय है; पुद्गल बलीवर्दस्थानीय है [व्याख्या १६.२२] (संयुत्त, ४.२८२ से तुलना कीजिए)। सास्रव द्रव्य 'संयोग-वस्तु' 'सञ्ञोजनिय' है। प्रतिसंख्यानिरोध कई हैं, वसुमित्र, महासांघिक ३४ वां वाद—विभाषा का हवाला ३१, पृ.१६१, काल० ३, पृ.१६२, काल० १ है।

[२] धर्मदिन्ना से उसके पूर्व भर्ता गृहपति विशाख ने पूछा : किं सभाग आर्ये निरोधः? उसने उत्तर दिया : असभाग आयुष्मन् विशाख। [व्याख्या १६.२८] (मध्यमागम, फ़ैस्किकुलस १८, फ़ोलिओ ३, विभाषा ३१.१६)
मज्झिम, १.३०४ से तुलना कीजिए : निब्बानस्स पनय्ये किं पतिभागो........

[१] उत्पादात्यन्तविघ्नोऽन्यो निरोधोऽप्रतिसंख्यया॥ [व्याख्या १७.८]

'विसंयोग' से भिन्न 'निरोध' जो अनागत धर्मों के उत्पाद में अत्यन्त विघ्न है अप्रतिसंख्या-निरोध है। इसकी यह संज्ञा इसलिए पड़ी क्योंकि इसकी प्राप्ति सत्याभिसमय से नहीं होती, प्रत्यय-वैकल्य से होती है।[२]

यथा, जब चक्षुरिन्द्रिय और मन-इन्द्रिय एक रूप में व्यासक्त होते हैं तब अन्य रूप, शब्द, गन्ध, रस और स्प्रष्टव्य प्रत्युत्पन्न अध्व का अतिक्रम कर अतीत अध्व में प्रतिपन्न होते हैं। इससे यह परिणाम निकलता है कि चक्षुर्विज्ञानादि पांच विज्ञानकाय जिनका आलम्बन अन्य रूप, शब्द, गन्ध, रस और स्प्रष्टव्य हो सकते थे, उत्पन्न नहीं हो सकते। क्योंकि विज्ञान-काय अतीत विषय के ग्रहण में, चाहे वह स्वालम्बन ही क्यों न हो, समर्थ नहीं होते। अतः पूर्वोक्त विज्ञानों के उत्पाद में अत्यन्त विघ्न होता है क्योंकि प्रत्यय-वैकल्य है।

इस निर्देश में चतुष्कोटि है (विभाषा ३२, ६):—

१ केवल अतीत, प्रत्युत्पन्न, उत्पत्तिधर्मा सास्रव धर्मों का प्रतिसंख्यानिरोध;

२ केवल अनुत्पत्तिधर्मा अनास्रव संस्कृत धर्मों का अप्रतिसंख्यानिरोध;

३ अनुत्पत्तिधर्मा सास्रव धर्मों का प्रतिसंख्यानिरोध और अप्रतिसंख्या-निरोध;

४ अतीत, प्रत्युत्पन्न और उत्पत्तिधर्मा अनास्रव धर्मों का न प्रतिसंख्यानिरोध, न अप्रति-संख्यानिरोध।[३]

[११] ते पुनः संस्कृता धर्मा रूपादिस्कन्धपंचकम्।
त एवाऽध्वा कथावस्तु सनिःसाराः सवस्तुकाः॥७॥

---

[२] विभाषा, ३२,५—कथावत्थु, २.११ के अनुसार महिंसासक (वैसिलीफ पृ.२८२) और अंधक पटिसंखानिरोध और अप्पटिसंखानिरोध में भेद करते हैं। शंकर २.२, २२ में दो निरोधों का विचार करते हैं (एलबम कर्न १११ देखिए)। वह अप्रतिसंख्यानिरोध और अनित्यतानिरोध को (१.२० ए-बी) एक दूसरे से मिला जुला देते हैं।

[३] यह चतुष्कोटि दो विषयों पर आश्रित हैः १. सास्रव धर्मों का, चाहे जिस किसी अध्व के वह हों, चाहे उत्पत्तिधर्मा हों या अनुत्पत्तिधर्मा, प्रतिसंख्यानिरोध (विसंयोग, वैराग्य) हो सकता है। २. सर्व अनास्रव और सास्रव धर्मों का, जो अनुत्पत्तिधर्मा हैं, अप्रतिसंख्या-निरोध होता है। अनागतधर्मों का अस्तित्व है। वह उत्पन्न होंगे यदि प्रत्यय उनको अनागत से प्रत्युत्पन्न अध्व में आकृष्ट करेंगे। वह उत्पन्न न होंगे यदि उनको अप्रतिसंख्यानिरोध का लाभ होगा। यथा आर्य एक काल में तिर्यक् योनि में पुनः अनुत्पन्न होने का सामर्थ्य प्राप्त करता हैः वह तिर्यक् योनि के अप्रतिसंख्यानिरोध का लाभ करता है जो अब से उसके लिए 'अनुत्पत्तिधर्मा' है।
भगवत् स्रोतापन्न पुद्गल के विषय में कहते हैंः "इसके नरक, तिर्यक्, प्रेतभव निरुद्ध हैं।" (व्याख्या १८.१४) (संयुत्त, ५.३५६ से तुलना कीजिए :—खीणनिरयो खीणतिरच्छान-योनिको ......)—अप्रतिसंख्यानिरोध एक धर्मविशेष है जो अमुक अमुक धर्म के उत्पाद का उसमें नियत रोध करता है जिसमें उसकी प्राप्ति होती है। यह अत्यन्त अनुत्पाद प्रत्यय-वैकल्यमात्र से नहीं होता क्योंकि यदि पुनः प्रत्ययों का किसी दिन सान्निध्य होगा तो धर्म की उत्पत्ति का प्रसंग होगा। अतः अप्रतिसंख्यानिरोध की प्राप्ति से तज्जातीय प्रत्यय-सान्निध्य और उत्पत्ति का नियत रोध होता है। २.५५ सी-डी और ५.२४ देखिए।

हमने कहा है कि सास्रव धर्म मार्गवर्जित संस्कृत धर्म हैं। संस्कृत कौन है ?

७ ए-बी. संस्कृत रूपादि पंचस्कन्ध हैं।[1]

रूपस्कन्ध, वेदनास्कन्ध, संज्ञास्कन्ध, संस्कारस्कन्ध, विज्ञानस्कन्ध । 'संस्कृत' की व्युत्पत्ति इस प्रकार है: "जिसे प्रत्ययों ने अन्योन्य समागम से, एक दूसरे की अपेक्षा कर (समेत्य, संभूय) किया है (कृत)"। कोई भी एक ऐसा धर्म नहीं है जो एक प्रत्यय से जनित हो (२.६४)। 'संस्कृत' शब्द का अर्थ यद्यपि 'कृत' है तथापि यह अनागत धर्म के लिए, प्रत्युत्पन्न धर्म के लिए उसी प्रकार प्रयुक्त होता है जैसे अतीत धर्म के लिए। वास्तव में अध्व के बदलने से धर्म का स्वभाव नहीं बदलता—दुग्धवत्। 'दुग्ध' का अर्थ है 'स्तन से जो निष्कासित हुआ है' 'जो दुहा गया है'। किन्तु स्तनस्थ क्षीर को भी लोक में 'दुग्ध' कहते हैं चाहे वह निष्कासित हो या न हो। 'इन्धन' का अर्थ है 'प्रदीप्त काष्ठ' किन्तु काष्ठ को भी 'इन्धन' कहते हैं।

[ १२ ] ७ सी-डी . संस्कृत ही अध्व, कथावस्तु, सनिःसार और सवस्तुक हैं।[1]

१. संस्कृत ही अध्व अर्थात् अतीत, प्रत्युत्पन्न और अनागत काल हैं क्योंकि उनका गत-गच्छत्-गमिष्यत्भाव है। यथा अध्व (मार्ग) के लिए लोक में कहते हैं कि यह अध्व ग्राम को गया, जाता है, जाएगा।

अथवा संस्कृत 'अध्व' इसलिए कहलाते हैं क्योंकि अनित्यता (२.४५ सी) इनका भक्षण करती है (अद्यन्ते)।

२. कथा से अभिप्राय शब्द, वाक्य से है। कथा का वस्तु (विषय) नाम (२.३६) है।[2]

क्या यह आवश्यक है कि कारिका में दिए अर्थ को हम अक्षरशः लें और कहें कि संस्कृत नाम हैं ?

नहीं।'कथावस्तु' से कथा के विषय का अर्थात् सार्थक वस्तु का ग्रहण होता है। अन्यथा यदि 'कथावस्तु' से केवल नाम का ग्रहण हो तो प्रकरणपाद[3] से विरोध हो। प्रकरणपाद में कहा

---

[1] ते पुनः संस्कृता धर्मा रूपादिस्कन्धपंचकम् [व्याख्या १९.३०, २०.७]। 'स्कन्ध' आख्या का निरूपण १.२० में है। 'संस्कृत' पर विसुद्धिमग्गो २९३ देखिये।

[1] त एवाध्वा कथावस्तु सनिःसाराः सवस्तुकाः॥ (व्याख्या २०.२४, २१.२०, २१.२८)

[2] इस सूत्र के अनुसार : [व्याख्या २१.३-५] त्रीणीमानि भिक्षवः कथावस्तून्यचतुर्थान्यपंचमानि यान्याश्रित्यार्याः कथां कथयन्तः कथयन्ति। कतमानि त्रीणि। अतीतं कथावस्तु अनागतं कथावस्तु प्रत्युत्पन्नं कथावस्तु। [प्रत्युत्पन्नं (व्याख्या २१.५) के अनन्तर कथावस्तु होना चाहिए था पर छूट गया है।]
अंगुत्तर, १.१९७ से तुलना कीजिए।
संघभद्र, ६३३,३,१३.

[3] २३.१०, फ़ोलिओ ४४ ए ४: "तीन अध्व, तीन कथावस्तु १८ धातुओं में, १२ आयतनों में, पांच स्कन्धों में संगृहीत हैं। निरोधज्ञान को वर्जित कर शेष ९ ज्ञानों से यह जाने जाते हैं । ६ विज्ञानों से इनका प्रविचय होता है और सब अनुशयों से यह प्रभावित होते हैं।"

है कि कथावस्तु १८ धातुओं में संगृहीत है।" (विभाषा, १५, ८)।[४]

३. निःसार का अर्थ है अवश्य निःसरण (सार = निःसरण), सर्व संस्कृत का निर्वाण (निरुपधि-शेष निर्वाण)। क्योंकि संस्कृत से निःसरण आवश्यक है इसलिए संस्कृत को 'सनिःसार' कहते हैं।[५]

[१३] ४ संस्कृत सहेतुक हैं। इसलिए उन्हें सवस्तुक कहते हैं अर्थात् सहेतुक।[१] वैभाषिकों का मत है कि 'सवस्तुक' शब्द में 'वस्तु' का अर्थ 'हेतु' है।[२]
संस्कृत' के यह विविध पर्याय रूप हैं।

**ये सास्रवा उपादानस्कन्धास्ते सरणा अपि।**
**दुःखं समुदयो लोको दृष्टिस्थानं भवश्च ते ॥८॥**

८ ए-बी--जब वे सास्रव होते हैं तब उपादानस्कन्ध होते हैं।[3] सास्रव संस्कृत ५ उपादान स्कन्ध हैं। सब उपादानस्कन्ध स्कन्ध हैं। किन्तु अनास्रव संस्कृत स्कन्धों में संगृहीत हैं, उपादानस्कन्धों में संगृहीत नहीं हैं (विभाषा, ७५, ३)।

'उपादान' क्लेश हैं (क्लेश, ५.३८)।

उपादानस्कन्ध संज्ञा इसलिए है (१) क्योंकि यह क्लेशों से संभूत हैं यथा लोक में 'तृणाग्नि' 'तुषाग्नि' कहते हैं; (२) अथवा यह क्लेशविधेय हैं यथा लोक में राजा से विधेय पुरुष को 'राजपुरुष' कहते हैं; (३) अथवा इनसे उपादान, क्लेश संभूत होते हैं, यथा लोक

---

४ असंस्कृत 'कथावस्तु' क्यों नहीं हैं? क्योंकि यह कथा का हेतु-प्रत्यय (२.५५) नहीं हैं; क्योंकि जैसे हम कह सकते हैं कि 'दीपंकर एवं एवं थे......मैत्रेय एवं एवं होंगे......., कप्फिण (?) राजा ऐसे हैं" उस प्रकार असंस्कृत आख्यानकरण-योग्य नहीं है [व्याख्या २१.२०]।

५ प्रकरण, ३४ ए के अनुसार हम उद्धार कर सकते हैं: सनिःसारा धर्माः कतमे? सर्वे संस्कृता धर्माः--केवल सास्रव धर्मों से ही नहीं किन्तु आर्यमार्ग से भी 'निःसरण' आवश्यक है। कोलोपम सूत्र को व्याख्या [२१.२५] उद्धृत करती है, मज्झिम, १.१३५, वज्रच्छेदिका §६: कोलोपमं धर्मपर्यायं आजानद्भिर्धर्मा अपि प्रहातव्याः प्रागेवाधर्मा इति (बोधिचर्यावतार, ९.३३ से तुलना कीजिए; कठ, २.१४)। कोलोपम पर ८.१८६ और परिशिष्ट देखिए।

१ प्रकरण, ३३ बी ३ के अनुसार: सवस्तुकाः सप्रत्यया धर्माः कतमे?
--संस्कृता धर्माः--२.५५ के अन्त में देखिए।

२ निरुक्ति के अनुसार 'वस्तु' का अर्थ 'हेतु' है: वसन्त्यस्मिन् प्राक् कार्याणि पश्चात् तत उत्पत्तेः। [व्याख्या २१.२९ में 'उत्पत्तेः' के स्थान में 'उत्पत्तिः' पाठ है।]
व्याख्या [२१.३०] यहां २.५५ के भाष्य का एक अंश उद्धृत करती है। प्रवचन में 'वस्तु' शब्द का प्रयोग पांच अर्थों में पाया जाता है (विभाषा, १९६, ८)--वसुबन्धु के मत में सवस्तुक का अर्थ 'सस्वभाव' है: संस्कृत सस्वभाव हैं, असंस्कृत अवस्तुक प्रज्ञप्तिसत् हैं।

3 ये सास्रवा उपादानस्कन्धास्ते [व्याख्या २२.१०]
विभाषा, ७५, ३ में 'उपादानस्कन्ध' पद के १४ अर्थ दिए हैं। वसुबन्धु इनमें से पहले तीन देते हैं।
खन्ध और उपादानक्खन्ध पर विसुद्धिमग्ग, १४, वारेन, पृ १५५ देखिए।

में पुष्प-वृक्ष, फल-वृक्ष कहते हैं।

८ सी. इन्हें 'सरणा' भी कहते हैं।[४]

[१४] 'रण' क्लेश हैं क्योंकि वह अपने को और दूसरे को बाधा पहुँचाते हैं। सास्रव संस्कृत 'सरण' कहलाते हैं क्योंकि क्लेश या रण वहां प्रतिष्ठा-लाभ करते हैं, उनसे अनुशयित, उपसेवित होते हैं। इसी प्रकार वह सास्रव कहलाते हैं क्योंकि वहां आस्रव अनुशयन करते हैं।

८. सी-डी. वह दुःख, समुदय, लोक, दृष्टिस्थान, भव भी हैं।[१]

१. दुःख, क्योंकि वह आर्यों के प्रतिकूल हैं (६.२)।

२. समुदय, क्योंकि दुःख के वह हेतुभूत हैं (६.२)।

३. लोक, क्योंकि वह विनाशप्रवृत्त हैं।[२]

४. दृष्टिस्थान, क्योंकि ५ दृष्टियां यहां अवस्थान करती हैं (तिष्ठति) और प्रतिष्ठा-लाभ करती हैं (५.७) (प्रकरण, ३३ बी ७)।

५. भव, क्योंकि उनका अस्तित्व है।[३] (८. पृ. १४१)

**रूपं पंचेन्द्रियाण्यर्थाः पंचाऽविज्ञप्तिरेव च ।**
**तद्विज्ञानाश्रया रूपप्रसादाश्चक्षुरादयः ॥९॥**

हमने कहा है कि ५ स्कन्ध हैं (१.७, २०)। हम पहले रूपस्कन्ध का निर्देश करते हैं (१.९-१४ बी)।

९ ए-बी. पांच इन्द्रिय, पांच अर्थ या विषय और अविज्ञप्ति—यह रूप हैं।[४] पांच इन्द्रियः

---

[४] सरणा अपि। मज्झिम, ३.२३५
रण, सरण, अरणा (७.३५ सी) पर मज्झिम, ३.२३५, मूसिओं, १९१४, पृ० ३५, वालेसर, डी स्ट्राइटलाजिगकाइट डे सुभूति (हीडेलबर्ग, १९१७) देखिए।

[१] दुःखं समुदयो लोको दृष्टिस्थानं भवश्च ते ॥

[२] अस्मिन्नेव रोहित व्यायाममात्रे कलेवरे लोकं प्रज्ञपयामि लोकसमुदयं च (व्याख्या २३.६) (अंगुत्तर, २.४८: रोहितस्स देवपुत्त) (व्याख्या २३.६ में 'रोहित' के स्थान में 'रोहिताश्व' पाठ है)—
भगवन् पुनः कहते हैं: लुह्यते प्रलुह्यते तस्माल्लोकः (संयुत्त ४.५२) (व्याख्या २३.७ में लुज्यते प्रलुज्यते पाठ है)—अष्टसाहस्रिका, पृ० २५६; महाव्युत्पत्ति, १५४, १६ (वोगिहारा, बोधिसत्वभूमि, लीपजिग—१९०८, पृ०. ३७)—यहां 'लुजि' धातु है, 'लोकृ' नहीं।

[३] भवतीति भवः—व्याख्या : भवः कतमः। पंचोपादानस्कन्धा इति वचनात् (व्याख्या २३.१३)
ह्वेनचाङ का अनुवादः "यह भवत्रय हैं।"
ऐसा प्रतीत होता है कि वसुबन्धु ने प्रकरण, ३२ बी २ से लिया है।
"कौन धर्म 'भव' हैं? सास्रव धर्म।
कौन धर्म 'भव' नहीं हैं? अनास्रव धर्म।"

[४] रूपं पंचेन्द्रियाण्यर्थाः पंचाविज्ञप्तिरेव च।
भूमिका में अनुदित प्रकरणपाद, अध्याय १ से तुलना कीजिए।

चक्षुरिन्द्रिय, श्रोत्र,° घ्राण,° जिह्वा,° काय°।

[१५] पांच अर्थ जो ५ इन्द्रियों के विषय हैं—रूप, शब्द, गन्ध, रस, स्प्रष्टव्य। इनमें अविज्ञप्ति (१.११) को शामिल कर रूपस्कन्ध होता है।

हमने रूपशब्दादि पांच अर्थ गिनाए हैं।

९ सी-डी. इन अर्थों के विज्ञान के आश्रय रूप-प्रसाद चक्षुरादि पंचेन्द्रिय हैं।[1] (इन्द्रिय भूत-विकारविशेष हैं)

चक्षुर्विज्ञान, श्रोत्र,° घ्राण,° जिह्वा° और कायविज्ञान के जो पांच आश्रय हैं और जो रूपप्रसाद और अतीन्द्रिय हैं वह यथाक्रम चक्षुरिन्द्रिय, श्रोत्र°, घ्राण°, जिह्वा°, कायेन्द्रिय हैं।

यथा भगवत् ने कहा है:"हे भिक्षुओ! चक्षु आध्यात्मिक आयतन भौतिक प्रसाद रूप..।[2]

अथवा इसका अर्थ इस प्रकार हो सकता है:[3]

९ सी-डी. इन इन्द्रियों के विज्ञानों के आश्रय अर्थात्.....चक्षुर्विज्ञान आदि के आश्रय—यह अर्थ प्रकरण ग्रन्थ (१३ ए १०) का अनुवर्तन करता है। प्रकरण में है:—

"चक्षुर्विज्ञान क्या है?

यह प्रसादरूप है जो चक्षु के विज्ञान का आश्रय है।"

**रूपं द्विधा विंशतिधा शब्दस्त्वष्टविधो रसः।**
**षोढा चतुर्विधो गन्धः स्पृश्यमेकादशात्मकम्॥१०॥**

हम रूपायतन से आरम्भ कर ५ अर्थों का अब विचार करते हैं।

[१६] १०ए. रूप द्विविध है, रूप २० प्रकार का है।[1]

१. रूप वर्ण और संस्थान है। वर्ण चतुर्विध है:– नील, लोहित, पीत, अवदात। अन्य वर्ण, वर्ण-चतुष्टय के भेद हैं। संस्थान (४.३ सी) अष्टविध है :– दीर्घ, ह्रस्व, वृत्त, परि-मंडल, उन्नत, अवनत, शात, विशात।[2]

२. रूप के २० प्रकार हैं:– ४ मूल जाति के वर्ण, ८ संस्थान, ८ वर्ण—अभ्र, धूम, रज, महिका, छाया, आतप, आलोक, अन्धकार। कोई नभस् को भी जो वैडूर्य-भित्ति के आकार

---

[1] तद्विज्ञानाश्रया रूपप्रसादश्चक्षुरादयः॥ [व्याख्या २३.३२]
पांच इन्द्रियां अतीन्द्रिय, अच्छ, इन्द्रियग्राह्य-वस्तु-व्यतिरिक्त, रूप-स्प्रष्टव्यादि-व्यतिरिक्त हैं। इनके अस्तित्व का ज्ञान अनुमान से होता है। जिन्हें लोकभाषा में चक्षुरादि कहते हैं वह इनके अधिष्ठान हैं [व्याख्या २४.१३] (१.४४ ए-बी)।
पसादचक्खु, चक्खुपसाद पर धम्मसंगणि, ६१६, ६२८ देखिए।

[2] १.३५ में उद्धृत सूत्र देखिए—विभंग, १२२, साइकालोजी १७३ से तुलना कीजिए।

[3] पहला अर्थ विभाषा, ७१, १२ के अनुसार है।

[1] रूपं द्विधा विंशतिधा [२५.६, २५.१३—व्याख्या में 'द्विधा' के स्थान म 'द्विबिधा' पाठ प्रामादिक है।]
विभाषा, १३.९; महाव्युत्पत्ति, १०१; धम्मसंगणि, ६१७ से तुलना कीजिए।

[2] सौत्रान्तिक यह नहीं मानते कि संस्थान वर्ण से द्रव्यान्तर है।

का दिखाईपड़ता है, एक वर्ण मानते हैं। इनके अनुसार २१ प्रकार होते हैं। 'शात' का अर्थ है 'सम संस्थान'। 'विशात' इसका विपर्यय है। 'महिका' वह वाष्प है जो भूमि और उदक से उत्थित होता है। 'आतप' सूर्य का प्रकाश है। आलोक चन्द्र, तारक, अग्नि, ओषधि और मणि का प्रकाश है। 'छाया' जो प्रकाश के प्रतिबन्ध से उत्पन्न होती है वह है जहाँ रूपों का दर्शन होता है। अन्धकार इसका विपर्यय है।

अन्य आख्याओं के अर्थ बताने की आवश्यकता नहीं है।

३. संस्थान के बिना वर्ण रूप हो सकता है[3] :— नील, लोहित, पीत, अवदात, छाया, आतप, आलोक, अन्धकार।

वर्ण के बिना संस्थान रूप हो सकता है:—दीर्घ-ह्रस्वादि का वह प्रदेश जो कायविज्ञप्ति-स्वभाव है।[४] (४. २)

रूप वर्ण-संस्थानात्मक हो सकता है: रूप के परिशिष्ट प्रकार। अन्य आचार्यों का मत है कि केवल आतप और आलोक वर्णमात्र हैं क्योंकि नील, लोहितादि का परिच्छेद दीर्घ-ह्रस्वादि के आकार में दिखाई देता है।

४. किन्तु सौत्रान्तिक कहते हैं कि एक द्रव्य उभयथा कैसे विद्यमान हो सकता है (विद्यते), कैसे वर्ण-संस्थानात्मक हो सकता है, क्योंकि वैभाषिकों का सिद्धान्त है कि वर्णरूप और संस्थानरूप द्रव्यान्तर हैं (४. ३)।

[१७] क्योंकि वर्ण और संस्थान उभय का एक द्रव्य में प्रज्ञान, ग्रहण होता है। यहाँ 'विद्' धातु ज्ञानार्थ है, सत्तार्थ नहीं है।

किन्तु सौत्रान्तिक उत्तर देते हैं कि कायविज्ञप्ति में भी वर्ण-संस्थानात्मक होने का प्रसंग होगा।

१० बी. शब्द अष्टविध है।[१]

१. यह चतुर्विध है : उपात्तमहाभूतहेतुक, अनुपात्तमहाभूतहेतुक (१. ३४ सी-डी), सत्वाख्य, असत्वाख्य (सत्वासत्वाख्य)।[२]

चतुर्विध शब्द मनोज्ञ-अमनोज्ञ भेद से पुनः अष्टविध होता है।

प्रथम प्रकार : यथा हस्तशब्द, वाक्शब्द

द्वितीय प्रकार : यथा वायु-वनस्पति-नदी शब्द

---

[3] विज्ञानकाय, २३.९, ४५ बी १८; विभाषा, ७५, १७.

[४] धम्मसंगणि, ६३६.

[१] (शब्दोऽष्टधा भवेत्)
धम्मसंगणि, ६२१

[२] सत्त्वाख्य = सत्वम् आचष्टे [व्याख्या २७.१]—प्रत्येक धर्म जो ज्ञापित करता है कि यह सत्व है 'सत्वाख्य' कहलाता है। जब कोई वाग्विज्ञप्ति-शब्द (४.३ डी) सुनता है तो वह जानता है कि "यह सत्व है"। वाग्विज्ञप्ति से अन्य शब्द असत्वाख्य है।

तृतीय प्रकार : यथा वाग्विज्ञप्ति-शब्द (४. ३ डी)

चतुर्थ प्रकार : अन्य शब्द

२. अन्य आचार्यों के अनुसार शब्द प्रथम दो प्रकार का युगपत् हो सकता है यथा हाथ और तम्बूरे के संयोग से उत्पादित शब्द। किन्तु वैभाषिक (विभाषा, १२७, ८) यह नहीं मानते कि एक वर्ण-परमाणु का हेतु महाभूत के दो भूतचतुष्क होते हैं। अतः यह नहीं स्वीकार किया जा सकता कि एक शब्द-परमाणु हाथ और तम्बूरे के महाभूत-चतुष्क-द्वय के उपादान से वर्तमान होता है।

१० बी-सी. रस छः प्रकार का है।[3]

मधुर, आम्ल, लवण, कटु, कषाय और तिक्त।

[१८] १० सी. गन्ध चतुर्विध है।[1]

क्योंकि सुगन्ध और दुर्गन्ध सम या विषम हैं [व्या २७. १४] (सम, विषम = अनुत्कट, उत्कट)। प्रकरणशास्त्र (फ़ोलियो १३बी १) में गन्ध त्रिविध है : सुगन्ध, दुर्गन्ध, समगन्ध।

१० डी. स्प्रष्टव्य ११ प्रकार का है।[2]

१. ११ द्रव्य स्प्रष्टव्य हैं : महाभूतचतुष्क, श्लक्ष्णत्व, कर्कश, गुरुत्व, लघुत्व, शीत, जिघत्सा और पिपासा।

२. भूत-निर्देश नीचे (१. १२) होगा। श्लक्ष्णत्व स्निग्धता है। कर्कश कठोरता है। गुरुत्व वह है जिसके योग से काय तोलनार्ह (१. ३६) होते हैं। लघुत्व इसका विपर्यय है। शीत वह धर्म है जो उष्म की अभिलाषा उत्पन्न करता है। जिघत्सा (बुभुक्षा) वह धर्म है जो आहार की इच्छा उत्पन्न करता है। पिपापा वह धर्म है जो पीने की इच्छा उत्पन्न करता है। वस्तुतः जिघत्सा और पिपासा शब्द से वह स्प्रष्टव्य प्रज्ञप्त होता है जो जिघत्सा और पिपासा का उत्पाद करता है। कारण में कार्य के उपचार से ऐसा होता है। यथा कहते हैं कि "बुद्धों का उत्पाद सुख है; सद्धर्म की देशना सुख है ; संघ की सामग्री सुख है; समग्रों का तप सुख है"।[3] (मिद्ध और मूर्छन स्प्रष्टव्य में अन्तर्भूत हैं, सिद्धि, ४१०)

३. रूपधातु में[4] जिघत्सा और पिपासा का अभाव है किन्तु अन्य स्प्रष्टव्य वहाँ हैं। यह सत्य है कि रूपावचर देवों के वस्त्र का अलग अलग तोल नहीं होता किन्तु संचित होने पर उनका तोल

---

[3] **रसः। षोढा [व्याख्या २७.१०]**
**धर्मस्कन्ध, ९, ९ के अनुसार रस १४ प्रकार का है। धम्मसंगणि, ६२९ से तुलना कीजिए।**

[1] **[गन्धश्चतुर्धा**
**धम्मसंगणि, ६२५**

[2] **स्प्रष्टव्यमेकादशात्मिकम्]**
**विभाषा, १२७, १, धम्मसंगणि, ६४८—१.३५ देखिए।**

[3] **धम्मपद, १९४; उदानवर्ग, ३०, २३—बुद्धोत्पाद सुखहेतु है, सुख नहीं है।**

[4] **१.३० बी देखिए।**

होता है। यह सत्य है कि रूपधातु में अपकारक शीत का अभाव है किन्तु अनुग्राहक शीत वहाँ होती है।

[१९] कम से कम वैभाषिकों का ऐसा मत है। [हमारे मत में समाधि देवों का अनुग्राहक है, शीत नहीं, व्या० २७. २८] ऐसा होता है[1] कि रूपविज्ञान या चक्षुर्विज्ञान, एक द्रव्य से, रूप के एक प्रकार से, उत्पन्न होता है: जब इस द्रव्य के प्रकार (नीलादि) का व्यवच्छेद होता है। अन्य अवस्थाओं में बहु द्रव्यों से विज्ञान की उत्पत्ति होती है: जब ऐसे व्यवच्छेद का अभाव होता है; उदाहरण के लिए, जब एक सेना या रत्नराशि के बहुवर्ण और संस्थान का समुदाय दूर से देखा जाता है। इसी प्रकार श्रोत्रादि विज्ञान की योजना करनी चाहिए। किन्तु कायविज्ञान अधिक से अधिक पाँच द्रव्यों से अर्थात् महाभूतचतुष्क और श्लक्षणत्व, कर्कशत्वादि अन्य स्प्रष्टव्यों में से किसी एक से उत्पन्न होता है। कुछ ही आचार्यों का यह मत है क्योंकि एक दूसरे मत के अनुसार कायविज्ञान ११ स्प्रष्टव्यों से युगपत् उत्पन्न होता है।

आक्षेप—आपके कथन के अनुसार ५ विज्ञानकायों में से प्रत्येक एक सामान्य को आलम्बन बनाता है, यथा चक्षुर्विज्ञान नीललोहितादि को आलम्बन बनाता है। अतः यह प्रसंग होगा कि विज्ञानकायों का विषय 'सामान्य लक्षण' है, न कि, जैसा प्रवचन में उपदिष्ट है, 'स्वलक्षण' है।

वैभाषिक (विभाषा, १३, १२) का उत्तर है कि स्वलक्षण से प्रवचन को द्रव्यों का स्वलक्षण इष्ट नहीं है किन्तु आयतनों का स्वलक्षण इष्ट है (२. ६२ सी)।[2]

[२०] जब कायेन्द्रिय और जिह्वेन्द्रिय युगपत् अपने विषय को (१. ४३ सी-डी) संप्राप्त होते हैं तो कौन सा विज्ञान पूर्व उत्पन्न होता है? वह जिसका विषय पटुतर है। किन्तु यदि दो

---

[1] विभाषा, १३, ९ के अनुसार।

[2] [व्याख्या २८. ४] मनोविज्ञान चक्षुर्विज्ञान आदि विज्ञानकाय के आलम्बनों को अभिसमस्त कर (अभिसमस्य) ग्रहण करता है। इसीलिए इसका विषय सामान्य लक्षण व्यवस्थापित होता है। दूसरे शब्दों में इसका विषय विशिष्ट नहीं है।
यदि इसी प्रकार कोई कहता है कि नील, पीत, लोहित और अवदात को आलम्बन बनाने वाले चार चक्षुर्विज्ञान के चार आलम्बनों को अभिसमस्त कर (अभिसमस्य) चक्षुर्विज्ञान एक को ग्रहण करता है तो हम कहेंगे कि इसका विषय सामान्य लक्षण है क्योंकि रूपायतन के सामान्य लक्षण उसके आलम्बन हैं। इसी प्रकार श्रोत्र-घ्राणादि विज्ञानों की भी स्वविषय में योजना करनी चाहिए। किन्तु इसका प्रवचन से विरोध है।
उत्तर: जब प्रवचन में उपदिष्ट है कि ५ विज्ञानकायों में से प्रत्येक का विषय एक स्वलक्षण है तब उसका अभिप्राय आयतनों के स्वलक्षण से है अर्थात् रूपायतनत्व से, 'चक्षुर्विज्ञान-विज्ञेयत्व' से है, शब्दायतनत्व से अथवा 'श्रोत्रविज्ञान-विज्ञेयत्व' आदि से है। प्रवचन को द्रव्यों का स्वलक्षण इष्ट नहीं है अर्थात् 'नीलाकारत्व' अथवा 'नीलाकारचक्षुर्विज्ञानविज्ञेयत्व' आदि इष्ट नहीं है। यह द्रव्यों के इन स्वलक्षणों की दृष्टि से नहीं है जो पंच विज्ञान-काय 'स्वलक्षणविषय' दूसरे शब्दों में 'स्वालम्बननियत' कहलाते हैं। क्या पट और मल का एक ही काल में ग्रहण होता है? ७. १७—द्रव्यस्वलक्षण, आयतनस्वलक्षण, वसुमित्र, सर्वास्तिवादी, २८ वां वाद।

विषयों की पटुता तुल्य है तो पूर्व जिह्वाविज्ञान उत्पन्न होता है क्योंकि सन्तति भोजन की इच्छा से आवर्जित होती है।

**विक्षिप्ताचित्तकस्यापि योऽनुबन्धः शुभाशुभः।**
**महाभूतान्युपादाय सा ह्यविज्ञप्तिरुच्यते ॥११॥**

हमने विज्ञानकाय के इन्द्रियों के अर्थों का निर्देश किया है और यह भी बताया है कि इन अर्थों का ग्रहण कैसे होता है। अब हम रूपस्कन्ध के ११ वें प्रकार अविज्ञप्ति का निर्देश करते हैं।

जिस पुद्गल का चित्त विक्षिप्त है अथवा जो अचित्तक है उसका भी महाभूतहेतुक कुशल और अकुशल प्रवाह अविज्ञप्ति कहलाता है।[1]

जिसका चित्त विक्षिप्त है' अर्थात् जिसका चित्त अविज्ञप्ति- समुत्थापक चित्त से अन्य है---यथा एक अकुशल चित्त, जब अविज्ञप्ति का समुत्थापक एक कुशल चित्त है।

[२१] 'जो अचित्तक है' अर्थात् जो असंज्ञिसमापत्ति और निरोधसमापत्ति में समापन्न है (२.४२)।

'अपि' शब्द सूचित करता है कि अविक्षिप्त पुद्गल में और सचित्तक पुद्गल में भी जिसका चित्त दो समापत्तियों में निरुद्ध नहीं हुआ है अविज्ञप्ति होती है।

'शुभ-अशुभ' = कुशल-अकुशल।

'अनुबन्ध' = प्रवाह।

'महाभूतान्युपादाय' : प्राप्ति–प्रवाह (२.३६) से अविज्ञप्ति-प्रवाह का भेद दिखाने के लिए ऐसा कहा है। अविज्ञप्ति महाभूतों पर आश्रित है क्योंकि भूत उसके जनन-निश्रयादि हेतु हैं (२.६५, विभाषा, १२७, ६)।

'सा हि...' अविज्ञप्ति के नाम-करण को ज्ञापित करने के लिए है। यद्यपि यह अनुबन्ध कायविज्ञप्ति और वाग्विज्ञप्ति के सदृश रूप-स्वभाव और क्रिया-स्वभाव है तथापि यह विज्ञप्ति

---

[1] **विक्षिप्ताचित्तकस्यापि योऽनुबन्धः शुभाशुभः।**
**महाभूतान्युपादाय सा ह्यविज्ञप्तिरिष्यते ॥ [व्याख्या २९.३]**

**४.३ डी आदि में हम अविज्ञप्ति का सविस्तर वर्णन करेंगे। यह वह कर्म है जो दूसरे को कुछ विज्ञापित नहीं करता। इस प्रकार यह मानस कर्म के सदृश है। किन्तु यह रूप है। इस प्रकार यह कायिक और वाचिक कर्म के सदृश है। हम देखेंगे कि सौत्रान्तिक और वसुबन्धु अविज्ञप्ति नामक धर्मविशेष के अस्तित्व को नहीं स्वीकार करते। संघभद्र का कहना है कि अविज्ञप्ति के जिस लक्षण को वसुबन्धु ने व्यवस्थापित किया है वह वैभाषिकवाद का अनुवर्तन नहीं करता। यशोमित्र ने (व्याख्या, ३०.२१-३२.३०) उनके दोषों को (न्यायानुसार से) उद्धृत किया है और उनका प्रतिषेध किया है। समयप्रदीपिका में संघभद्र वसुबन्धु की कारिका के स्थान में एक अन्य कारिका देते हैं। यशोमित्र इसे उद्धृत करते हैं :**

**कृतेऽपि विसभागेऽपि चित्ते चित्तात्यये च यत्।**
**व्याकृताप्रतिघं रूपं सा ह्यविज्ञप्तिरिष्यते ॥ (व्या ३२.२१)**

के सदृश दूसरे को कुछ विज्ञापित नहीं करता (विज्ञपयति) [विज्ञपयति के स्थान में व्या २९. ३२ का विज्ञापयति पाठ है]।

'इष्यते' यह दिखाने के लिए है कि आचार्य यहाँ वैभाषिक मत का निर्देश करते हैं, अपने मत का नहीं।

समासतः विज्ञप्ति और समाधि से संभूत कुशल-अकुशल रूप अविज्ञप्ति है।

**भूतानि पृथिवीधातुरप्तेजोवायुधातवः।**
**धृत्यादिकर्मसंसिद्धाः खरस्नेहोष्णतेरणाः ॥१२॥**

१२ ए-बी. भूत या महाभूत पृथिवीधातु, अब्धातु, तेजोधातु और वायुधातु हैं।[1]

[२२] यह चार धातु-चतुष्टय हैं। यह धातु इसलिए कहलाते हैं क्योंकि यह अपने स्वलक्षण और उपादायरूप या भौतिक का धारण करते हैं। यह 'महान्' कहलाते हैं। यह महान् हैं क्योंकि यह सर्व उपादायरूप के आश्रय हैं। अथवा यह महान् हैं क्योंकि पृथिवी, अप्, तेज, वायु स्कन्ध में जहाँ महाभूतों की वृत्तियाँ युगपत् उद्भूत होती हैं महाभूतों का महासन्निवेश होता है (विभाषा, १३१, ६, १२७, ५)।[1]

किस कारित्र से इन धातुओं की सिद्धि होती है और इनका स्वभाव क्या है?

१२ सी-डी. धृति आदि कर्म से इनकी सिद्धि होती है। यह खर, स्नेह, उष्णता, ईरण हैं।[2]

पृथिवी-अप्-तेजो-वायुधातु की सिद्धि यथाक्रम धृतिकर्म, संग्रहकर्म, पक्तिकर्म, व्यूहन-कर्म से होती है। व्यूहन से वृद्धि और प्रसर्पण समझना चाहिए। यह इनके कर्म हैं।

---

[1] **भूतानि पृथिवीधातुरप्तेजोवायुधातवः [व्याख्या ३२.३१]**
**संघभद्र का व्याख्यान :—**
**महाभूतों को धातु क्यों कहते हैं?—क्योंकि यह सर्व रूपधर्मों के उत्पत्ति-स्थान हैं। स्वयं महाभूतों की उत्पत्ति महाभूतों से होती है। लोक में उत्पत्ति-स्थान को 'धातु' कहते हैं, यथा स्वर्ण आदि की खनि को स्वर्णादि धातु कहते हैं। अथवा वह 'धातु' इसलिए कहलाते हैं क्योंकि वह विविध दुःखों के उत्पत्ति-स्थान हैं। उदाहरण, यथापूर्व।**
**कुछ का कहना है कि वह 'धातु' इसलिए कहलाते हैं क्योंकि वह महाभूतों के स्वलक्षण और उपादायरूप दोनों को धारण करते हैं।**
**धातुओं को महाभूत भी कहते हैं—भूत क्यों? महाभूत क्यों? जब उपादायरूप के विविध प्रकार (नीलादि) की उत्पत्ति होती है तब उनमें से प्रत्येक विविध आकारों में उपस्थित होता है। इसीलिए उन्हें 'भूत' कहते हैं। अन्य आचार्यों के अनुसार सत्त्वों के कर्म के अधिपति-प्रत्ययवश वह सदा वर्तमान होते हैं। इसीलिए उन्हें 'भूत' कहते हैं। अथवा धर्मों के उत्पाद को भव कहते हैं....। २, पृ० १४४, ३१३ देखिए।**

[1] **तदुद्भूतवृत्तिषु पृथिव्यप्तेजोवायुस्कन्धेषु तेषु एषां महासंनिवेशत्वात् [व्याख्या ३३.५]। 'भूतानि' का निर्वचन 'भूतं तन्वन्ति' है। [व्याख्या ३३.८]**

[2] **धृत्यादिकर्मसंसिद्धाः खरस्नेहोष्णतेरणाः। [व्याख्या ३३.९]**
**जल (शब्द के लौकिक अर्थ में) नावों का संधारण करता है। इसलिए पृथिवीधातु अपनी वृत्ति को वहां उद्भूत करता है [व्याख्या ३३.१२]; यह उष्ण है, इसमें ईरण है इत्यादि। २.२२ देखिए। धम्मसंगणि, ९६२-९६६; काम्पेण्डियम, एपेण्डिक्स पृष्ठ २६८.**

पृथिवीधातु का स्वभाव खर है; अब्धातु का स्वभाव स्नेह है; तेजोधातु का स्वभाव उष्णता है; वायुधातु का स्वभाव ईरण है।[१]

[२३] ईरण से अभिप्राय उससे है जिसका स्वभाव भूतस्रोत का देशान्तरोत्पादन है,[१] यथा लोक में प्रदीप का ईरण कहते हैं (४.२ सी-डी)। प्रकरणों[२] में और सूत्र[३] में उक्त है— "वायु धातु क्या है?–लघुत्व।" प्रकरणमें यह भी है कि "लघु उपादायरूप है।" अतएव जो धर्म ईरणात्मक है वह वायुधातु है।[४] उसका स्वभाव (लघुत्व) उसके ईरणा-कर्म से अभिव्यक्त होता है।

**पृथिवी वर्णसंस्थानमुच्यते लोकसंज्ञया।**
**आपस्तेजश्च वायुस्तु धातुरेव तथापि च ॥१३॥**

पृथिवीधातु और पृथिवी में क्या विशेष है; अब्धातु और जल में क्या विशेष है, इत्यादि?

१३. लोक व्यवहार में जिसे 'पृथिवी' शब्द से प्रज्ञप्त करते हैं वह वर्ण और संस्थान है। इसी प्रकार जल और तेज हैं। वायु वायुधातु है अथवा वर्ण और संस्थान है।[५]

[२४] वास्तव में लोक में 'कृष्ण वायु' 'परिमंडल वायु' कहते हैं किन्तु जिसकी लोक में वायु संज्ञा है वह वायुधातु भी है।

---

[१] प्रकरण, १३ ए—महाव्युत्पत्ति (१०१) में खक्खटत्व, द्रवत्व, उष्णत्व, लघुसमुदीरणत्व है।

[१] देशान्तरोत्पादनस्वभावा...ईरणा। [व्याख्या ३३.२१ में स्वभावा के अनन्तर 'भूतस्रोतसः' पद है।] कास्पेण्डियम में उद्धृत वाक्य से तुलना कीजिए: देसन्तरुप्पत्तिहेतुभावेन।

[२] संस्कृत और तिब्बती भाषान्तर में बहुवचन है।—युआन्-चाङः प्रकरणपाद; परमार्थः फेन-पी-ताओ-लि-ल्युएन—प्रकरण, १३ एः वायुधातुः कतमः? लघुसमुदीरणत्वम्।

[३] यह सूत्र (संयुक्तागम, ११, १, विभाषा, ७५, ८) कदाचित् गर्भावक्रान्तिसूत्र (मज्झिम, ३.२३९, नीचे पृष्ठ ४९, टिप्पणी २) है। शिक्षासमुच्चय (पृ० २४४) जिस पाठ से परिचित है उसमें (१) पृथिवी के लिए कक्खटत्व खरगत है।
(महावस्तु १.३३९, दिव्यावदान, ५१८,२ से तुलना कीजिए।
धम्मसंगणि, ६४८; हर्ष चरित; जे० आर० ए० एस० १८९९, पृ० ४९४);
(२) अप् के लिए आपस् अब्गत अप्त्व स्नेह स्नेहगत स्नेहत्व द्रवत्व है; (३) तेज के लिए तेजस् तेजोगत उष्मगत है; (४) वायु के लिए वायु वायुगत लघुत्व समुदीरणत्व है।

[४] अर्थात् लघु भौतिक रूप है; लघुत्व जो ईरणात्मक है वायुधातु है; वायुधातु इसलिए लघुसमुदीरणत्व है: जो लघुत्व और ईरणत्व उत्पन्न करता है।

[५] पृथिवी वर्णसंस्थानमुच्यते लोकसंज्ञया।
आपस्तेजश्च वायुस्तु (वायुश्च) धातुरेव तथापि च। [व्याख्या ६९२.९]
८.३५ की व्याख्या में यह पाठ उद्धृत है किन्तु तिब्बती भाषान्तर और व्याख्या पृ० ३३ [व्याख्या ३३.३०] के अनुसार 'वात्या तु...' पाठ होना चाहिए—वात्या = वातानाम् समूहः [व्याख्या ३३.३०], पाणिनि ४,२,४२ के अनुसार।
८.३६ बी (वायुकृत्स्नायतन) देखिए। क्या वायु रूप है? इस पर विभाषा, ८५, १३; १३३, ५ में दो मत हैं।

रूप से लेकर अविज्ञप्ति तक यह सब धर्म 'रूप' क्यों कहलाते हैं? यह सब मिलकर रूप-स्कन्ध क्यों हैं?

१. भगवत् ने कहा है 'हे भिक्षुओ! क्योंकि यह निरन्तर 'भिन्न' (रूप्यते) होता है इसलिए इसे रूप उपादानस्कन्ध कहते हैं। किससे यह भिन्न होता है? हस्त के स्पर्श से यह भिन्न होता है'।[1] 'रूप्यते' का अर्थ 'बाध्यते' है यह क्षुद्रकागम में पठित अर्थ-वर्गीय सूत्रों की एक गाथा से सिद्ध होता है (अट्ठकवग्ग, १.२): [2] "जो पुद्गल छन्द उत्पन्न होने से काम-भोग की इच्छा करता है, यदि उसकी कामनाएँ समृद्ध नहीं होतीं तो वह शल्य से विद्ध सत्व के सदृश बाधित होता है" (रूप्यते)। (महाभारत १३। १९३, ४८ से तुलना कीजिए)

किन्तु रूप कैसे बाधित होता है? – विपरिणाम के उत्पादन से, विक्रिया से।

२. अन्य आचार्यों के अनुसार रूपभाव अर्थात् रूपण भेद, विपरिणाम (बाधनरूपण, विपरिणाम के अर्थ में रूपण) नहीं है,

[२५] किन्तु सप्रतिघत्व या प्रतिघात[1] है। यह स्वदेश में पररूप की उत्पत्ति में प्रतिबन्ध है (१.४३ सी-डी देखिए)।[2]

३. दोष

---

[1] रूप्यते रूप्यत इति भिक्षवः...... (ऐसा प्रतीत होता है कि तिब्बती और चीनी ग्रन्थ यह अनुवाद चाहते हैं:—"कौन बाधित होता है? हस्त-स्पर्श से.......")
संयुत्त, ३.८६: रुप्पतीति खो भिक्खवे तस्मा रूपंति वुच्चति। केन रुप्पति। सीतेन... सिरिंसपसंफस्सेन रुप्पति (ड्वे ज़न आङ्ग का अर्थ काम्पेण्डियम में देखिए: "रूप उसे कहते हैं जो शीत आदि...की भौतिक अवस्था में अपनी आकृति बदलते हैं।")
महाव्युत्पत्तिः रूपणाद् रूपम् (१११, ३; २४५, ११३७, ११५३, ११५४)। दो धातु हैं: (१) 'रूप्' जिससे 'रूप' सिद्ध होता है, जिसके अर्थ आकृति, वर्ण, सौन्दर्य, रूप्य, स्वर्ण आदि हैं; (२) 'रुप्' भिन्न होनाः वैदिक संस्कृत में रुप्यति, रोपण आदि; पालि में रुप्पति (=कुप्पति घट्टियति पीडियति दोमनस्सितो होति); पाणिनीय संस्कृत में लुप्, लुम्पति है।

[2] सर्वास्तिवादियों के अनुसार अर्थवर्गीय 'उपयोगी अध्याय' हैं। पालि के अनुसार यह 'अष्टक वर्ग' है। (एस० लेवी, जे० एस १९१५, १.४१२; १९१६, २.३४)

तस्य चेत् कामयानस्य छन्दजातस्य देहिनः।
ते कामा न समृध्यन्ति शल्यविद्ध इव रूप्यते॥ [व्याख्या ३४.२]

महानिद्देस, पृ० ५—कर्न, वेर्स्प्राइडे गेश्रीफ़्तेन्, २.२६१ (हेग १९१३) जातक ३, ३६८, चरियापिटक, ३, ६ आदि से 'रुप्' का अर्थ उदाहृत करते हैं।

[1] रूपणं प्रतिघात इत्यपरे [व्याख्या ३४.२०]—प्रतिघात का अर्थ है—स्वदेशे परस्योत्पत्तिप्रतिबन्धः—नीचे पृष्ठ ५१ देखिए।
अन्यत्र 'सप्रतिघ' वस्तु का लक्षण यह हैः यद्देशं आवृणोति, जो देश का 'आवरण' करता है, जो 'प्रसृत' है।
१.४३ में हम देखेंगे कि धम्मसंगणि, ६१८-६१९ को किस प्रकार का प्रतिघात इष्ट है।

[2] रूपण का एक तीसरा निर्वचन है, मध्यमकवृत्ति, ४५६, ९: तत्रेदम् इहामुत्रेति निरूपणाद् रूपम्।
"यह रूप कहलाता है क्योंकि हम निर्देश कर सकते हैं कि यह यहां है, वहां है।" १.२४ की

१. यदि ऐसा है तो परमाणु-रूप रूप नहीं होगा क्योंकि बाधन-रूपण और प्रतिघात-रूपण से द्रव्य-परमाणु का रूपण अशक्य हैः यह रूपण से मुक्त है।

निस्सन्देह परमाणु रूपण से मुक्त है किन्तु एक परमाणु-रूप पृथग्भूत नहीं होता[3] ; संघातस्थ (संचित) होने के कारण संघात की अवस्था में इसका बाधन-रूपण और प्रतिघात-रूपण हो सकता है। (विभाषा, ७५, १४)

२. अतीत (संघभद्र, ६३६, १, ८) और अनागत रूप रूप नहीं हैं क्योंकि उनके विषय में यह नहीं कहा जा सकता कि उनका वर्तमान में रूपण, प्रतिघात होता है। (रूप्यन्ते, प्रतिहन्यन्त इति)

निस्सन्देह, किन्तु वह रूपित हुए हैं और रूपयिष्यमाण हैं। अतीत या अनागत, इनकी वही जाति है जो उस धर्म की है जिसका वर्तमान में प्रतिघात होता है। यथा लोक में केवल प्रदीप्त काष्ठ को ही नहीं किन्तु तज्जातीय को भी, जो इन्धनार्थ कल्पित है, 'इन्धन' कहते हैं।

३. अविज्ञप्ति रूप न होगा क्योंकि वह अप्रतिघ है।

निसन्देह, किन्तु हम अविज्ञप्ति के रूपत्व को युक्त सिद्ध कर सकते हैं।

[२६] ए—कायिक या वाचिक विज्ञप्ति, जिससे अविज्ञप्ति समुत्थापित होती है, रूप है। इसलिए अविज्ञप्ति रूप है यथा जब वृक्ष प्रचलित होता है तब छाया प्रचलित होती है।

नहीं, क्योंकि अविज्ञप्ति में विकार नहीं होता (अविकारात्) । इसके अतिरिक्त यदि वृक्षछाया-धर्म इष्ट है तो दृष्टान्त की यथार्थता के लिए जिस प्रकार वृक्ष की निवृत्ति से छाया की निवृत्ति देखी जाती है उसी प्रकार विज्ञप्ति की निवृत्ति से अविज्ञप्ति की निवृत्ति होनी चाहिए।

बी—दूसरा निरूपण। अविज्ञप्ति रूप है क्योंकि महाभूत, जो उसके आश्रयभूत हैं, रूप हैं।[1]

दोष—इस प्रकार चक्षुर्विज्ञानादि पाँच विज्ञानकाय के रूपत्व का प्रसंग होगा क्योंकि उनका आश्रय (चक्षुरिन्द्रिय आदि) रूप है। यह उपन्यास विषम है। अविज्ञप्ति महाभूतों पर आश्रित

---

व्याख्या का लक्षण—पाण्यादिसंस्पर्शैर्बाधनालक्षणाद् रूपणात्। इदमिहामुत्रेति देशनिदर्शनरूपणाच्च [व्याख्या ५१.३०]।—महाव्युत्पत्ति, २४५, ११३९ के 'देशनिरूपण' से तुलना कीजिए। इसलिए रूप वह है जो सप्रतिघ है, जो देश को आवृत करता है। संघभद्र अन्य निरूपण देते हैं: रूप की संज्ञा इसलिए है क्योंकि यह पूर्वकृत कर्म का निदर्शन करता है: "इस पुद्गल ने कोप-कर्म का आचरण किया; इससे इसकी कुरूपता का उत्पाद हुआ।"

[3] न वै परमाणुरूपमेकं पृथग्भूतमस्ति [व्याख्या ३४.२४]—१.४३ सी-डी और २.२२ देखिए।

[1] आश्रयभूतरूपणात् [व्याख्या २५.२०]। यह वाक्य महाव्युत्पत्ति, १०९,२ में आ गया है। जापानी संपादक विभाषा, ७५, १४ का हवाला देते हैं।
व्याख्या सूचित करती है कि यह दूसरा निरूपण वृद्धाचार्य वसुबन्धु का है। [व्याख्या ३५.२०] कोश के रचयिता वसुबन्धु के आचार्य मनोरथ के आचार्य वसुबन्धु पर भाष्य, ३.२७ और ४.३ ए तथा बुधिस्ट कास्मालोजी की भूमिका, पृ० ८ (लन्दन, १९१८) देखिए।

हो वर्तमान है यथा छाया वृक्ष में उपश्लिष्ट हो वर्तमान होती है, यथा मणि-प्रभा मणि में उपश्लिष्ट हो वर्तमान होती है। चक्षुर्विज्ञान इन्द्रिय पर आश्रित नहीं है जो उसकी उत्पत्ति में निमित्त मात्र है।

परिहार— यह वैभाषिक मत नहीं है कि छाया और मणि-प्रभा वृक्ष और मणि के आश्रित हैं (विभाषा, १३, ९)। वैभाषिक मत यह है कि छाया और प्रभा का प्रत्येक वर्ण-परमाणु स्वभूत-चतुष्क का आश्रय ले वर्तमान होता है। और यह मानना कि "छाया पारंपर्येण वृक्ष पर आश्रित है क्योंकि छाया स्वभूत पर आश्रित है और यह महाभूत वृक्ष पर आश्रित हैं" छाया और अविज्ञप्ति के दृष्टान्त को अयुक्त ठहराना है। वैभाषिक मानते हैं कि अविज्ञप्ति के आश्रय (४.४ सी-डी) महाभूत जब निरुद्ध होते हैं तब भी अविज्ञप्ति का निरोध नहीं होता। अतः आप का यह परिहार ("यह उपन्यास विषम है। अविज्ञप्ति ....") अयुक्त है।

किन्तु हम कहेंगे कि इस दोष का कि "इस सिद्धान्त के अनुसार पाँच विज्ञानकाय रूप होंगे" परिहार हो सकता है।

[२७] वास्तव में चक्षुर्विज्ञान का आश्रय द्विविध है: १. चक्षुरिन्द्रिय जो 'प्रतिघात' (१.२९बी) की अवस्था में है, जो रूप है। २. मन-इन्द्रिय (मनस्, १.४४ सी-डी) जो रूप नहीं है।

किन्तु अविज्ञप्ति के विषय में ऐसा नहीं है। इसका आश्रय केवल रूप है। क्योंकि अविज्ञप्ति का आश्रय रूप होने से अविज्ञप्ति रूप कहलाता है इसलिए चक्षुर्विज्ञान को भी रूप कहना चाहिए। यह प्रसंग असमान है। इसलिए दूसरा निरूपण सुष्ठु है।

जिन इन्द्रिय और इन्द्रियार्थ को रूपस्कन्ध बताया है,

**इन्द्रियार्थास्त एवेष्टा दशायतनधातवः।**
**वेदनाऽनुभवः संज्ञा निमित्तोद्ग्रहणात्मिका ॥१४॥**

१४ ए-बी—यही इन्द्रिय और इन्द्रियार्थ १० आयतन, १० धातु माने जाते हैं।[१] आयतन (चित्त-चैत का आयद्वार) (१.२०) की व्यवस्था में यह १० आयतन हैं: चक्षुरायतन, रूपायतन ...... कायायतन, स्प्रष्टव्यायतन।

धातु (आकर १.२०) की व्यवस्था में यह १० धातु हैं: चक्षुर्धातु, रूपधातु ... कायधातु, स्प्रष्टव्यधातु।

हमने रूपस्कन्ध का व्याख्यान किया है और यह भी निर्दिष्ट किया है कि उसका आयतन और धातु में व्यवस्थान कैसे होता है। अब अन्य स्कन्धों का निरूपण करना है।

---

[१] इन्द्रियार्थास्त एवेष्टा (दशायतनधातवः)। [व्याख्या ३६.२२]
समयप्रदीपिका में संघभद्र का पाठ 'त एवोक्ता' है—वसुबन्धु में 'इष्ट' शब्द का प्रयोग है जिसका अर्थ है कि यह वैभाषिक मत है क्योंकि उनके मत में स्कन्ध वस्तुसत् नहीं हैं (१.२०)।

१४ सी. वेदना दुःखादि अनुभव है।[२]

वेदनास्कन्ध त्रिविध अनुभव या अनुभूति (अनुभव, अनुभूति, उपभोग [व्या ३६. ३३]) हैः सुख, दुःख, अदुःखासुख। वेदना के ६ प्रकार हैं: जो चक्षुरादि ५ रूपी इन्द्रियों के स्वविषय के साथ संस्पर्श होने से उत्पन्न होते हैं; जो मन-इन्द्रिय के साथ संस्पर्श होने से उत्पन्न होता है (२. ७ आदि)।

[२८] १४ सी-डी. संज्ञा निमित्त का उद्ग्रहण है।[१]

नीलत्व, पीतत्व, दीर्घत्व, ह्रस्वत्व, पुरुषत्व, स्त्रीत्व, शातत्व, अशातत्व, मनोज्ञ, अमनोज्ञ आदि विविध स्वभावों का उद्ग्रहण, परिच्छेद संज्ञास्कन्ध है (१. १६ ए देखिए)। वेदना के समान संज्ञाकाय के भी इन्द्रिय के अनुसार ६ प्रकार हैं।

**चतुर्भ्योऽन्ये तु संस्कारस्कन्ध एते पुनस्त्रयः।**
**धर्मायतनधात्वाख्याः सहाविज्ञप्त्यसंस्कृतैः ॥१५॥**

१५ ए-बी. अन्य चार स्कन्धों से भिन्न संस्कार संस्कारस्कन्ध है।[२] सर्व संस्कृत (१. ७ए) संस्कार हैं किन्तु संस्कारस्कन्ध उन्हीं संस्कृतों के लिए प्रयुक्त होता है जो न पूर्वोक्त रूपस्कन्ध, वेदनास्कन्ध, संज्ञास्कन्ध में संगृहीत हैं और जो न वक्ष्यमाण (१. १६) विज्ञानस्कन्ध में संगृहीत हैं।

---

२ वेदनानुभवः।—२.७, ८, २४; ३. ३२; संयुत्त, ३. ९६; धम्मसंगणि, ३; थियोरी आफ़ ट्वेल्व काज़ेज़, पृ २३

१ संज्ञा निमित्तोद्ग्रहणात्मिका ॥ [व्याख्या ३७.५] मज्झिम, १.२९३; सिद्धि, १४८; १० निमित्त, ८. १८५.
'निमित्त' से वस्तु की विविध अवस्थाएँ, 'वस्तुनोऽवस्थाविशेषः' [व्याख्या ३७.५] समझना चाहिए। 'उद्ग्रहण' का अर्थ 'परिच्छेद' है।
विज्ञानकाय २६ ए १६ जो न्यायविन्दुपूर्वपक्षसंक्षेप (तिब्बती सूत्र १११, फ़ोलिओ १०८ बी) और मध्यमकवृत्ति (पृ० ७४) में उद्धृत है कहता है कि चक्षुर्विज्ञान नील को जानता है (नीलं जानाति) किन्तु यह नहीं जानता कि 'यह नील है' (नो तु नीलमिति)।
१.३३ ए-बी. पर टिप्पणी देखिए—संज्ञा से चक्षुः संस्पर्शज उपलब्धि और चक्षुः संस्पर्शज उपलब्धि के बाह्यहेतु का नामकरण होता है।
आक्षेप—विज्ञान और संज्ञा का सदा संप्रयोग होता है (२.२४)। इसलिए चक्षुर्विज्ञान आलम्बन के निमित्तों का उद्ग्रहण करेगा।
उत्तर—पंच विज्ञानकाय से संप्रयुक्त संज्ञा अपटु होती है; केवल मनोविज्ञान-संप्रयोगिणी संज्ञा पटु होती है; यही सविकल्पक है (१.३२-३३)। [व्याख्या ३७.९]
संयुत्त, ३.८६ से तुलना कीजिए; अत्थसालिनी, २९१; मिलिन्द ६१.

२ इस पंक्ति का उद्धार कठिन है।
[संस्कारस्कन्धश्] चतुर्भ्योऽन्ये [संस्काराः] [व्याख्या ३७.१३]
संस्कारों पर थियोरी आफ़ ट्वेल्व काज़ेज़, पृ. ९-१२ देखिए।

यह सत्य है कि सूत्र में कहा है कि "संस्कारस्कन्ध ६ चेतनाकाय हैं"[3] और इस लक्षण के अनुसार संस्कारस्कन्ध में १. सब विप्रयुक्तसंस्कार (२. ३५) और २. चेतनावर्जित संप्रयुक्त-[२९] संस्कार (२. २३ बी, ३४) का असंग्रह है। किन्तु अभिसंस्करण में चेतना का प्राधान्य होने से सूत्र का ऐसा निर्देश है। चेतना कर्मस्वभाव है।[1] लक्षणतः यह वह हेतु है जो उपपत्ति का अभिसंस्करण करता है। भगवत् का यह भी वचन है कि "संस्कार नामक उपादान-स्कन्ध इसलिए ऐसा कहलाता है क्योंकि यह संस्कृत का अभिसंस्कार करता है"[2] अर्थात् यह अनागत स्कन्ध-पंचक का अभिसंस्करण और निर्धारण करता है।[3] अन्यथा सूत्र-निर्देश का अक्षरार्थ लेने से यह परिणाम होगा कि चेतनाव्यतिरिक्त शेष चैतसिक (संप्रयुक्त) धर्म और सर्व विप्रयुक्त धर्म (२. ३५) किसी स्कन्ध में संगृहीत न होंगे। इसलिए उनका दुःख-समुदय-सत्यत्व न होगा : न परिज्ञा होगी, न प्रहाण।

किन्तु भगवत् वचन है कि "यदि एक धर्म भी अनभिज्ञात, अपरिज्ञात हो तो मैं कहता हूँ कि दुःख का अन्त नहीं किया जा सकता" (६. ३३)।[4]

पुनः "यदि एक धर्म भी अप्रहीण हो . . . " (संयुक्त, ८, २२)। इसलिए चैत्त और विप्रयुक्त का कलाप संस्कारस्कन्ध में संगृहीत है।

[३०] १५ बी-डी. यह तीन स्कंध, अविज्ञप्ति और असंस्कृत के साथ मिलकर, धर्मायतन, धर्मधातु कहलाते हैं।[1]

वेदनास्कन्ध, संज्ञास्कन्ध, संस्कारस्कन्ध, अविज्ञप्ति (१. ११) और तीन असंस्कृत (१.५बी) यह ७ द्रव्य धर्मायतन, धर्मधातु कहलाते हैं।

---

[3] संस्कारस्कन्धः कतमः। षट् चेतनाकायाः [व्याख्या ३७.१६]--संयत्त, ३.६० से तुलना कीजिए : कतमे च भिक्खवे संखारा। छयिमे चेतनाकाया। रूपसंचेतना...... धम्मसंचेतना; विभंग, पृ. १४४; सुमंगलविलासिनी, पृ. ६४.

[1] चेतना कर्म है, (४.१) उपपत्ति का हेतु है। इसके विपरीत तृष्णा अभिनिर्वृत्ति (६.३) का हेतु है।

[2] अर्थात् : "क्योंकि यह संस्कृत का अभिसंस्कार करता है"--यथा लोक में कहते हैं "ओदनं पचति"।

[3] ए. (संयुत्त, ३.८७): संखतं अभिसंखरोन्तीति भिक्खवे तस्मा संखारा ति वुच्चन्ति। किंच संखतं अभिसंखरोन्ति। रूपं रूपत्ताय संखतं अभिसंखरोन्ति। वेदनं वेदनत्ताय........
बी. संयुत्त ५.४४९ : जातिसंवत्तनिकेऽपि संखारे अभिसंखरोन्ति। जरासंवत्तनिकेऽपि ......। मरणसंवत्तनिकेऽपि......। ते जातिसंवत्तनिकेऽपि संखारे अभिसंखरित्वा... जातिपपातंपि पपतन्ति।......
सी. अभिसंस्करणलक्षणाः संस्काराः (मध्यमकवृत्ति, ३४३.९); चित्ताभिसंस्कारमनस्कारलक्षणा चेतना (वही. ३११, १); रक्तः सन् रागजं कर्माभिसंस्करोति (वही. १३७, ७, महावस्तु, १.२६ और ३९१)।

[4] नाहमेकधर्मसप्यनभिज्ञाय अपरिज्ञाय दुःखस्यान्तक्रियां वदामि। [व्याख्या ३७.३३]

[1] त इमे [त्रयः] धर्मायतनधात्वाख्याः सहाविज्ञप्त्यसंस्कृतैः॥ [व्याख्या ३८.१२]

**विज्ञानं प्रतिविज्ञप्तिर्मन आयतनं च तत्।**
**धातवः सप्त च मताः षड् विज्ञानान्यथो मनः ॥१६॥**

१६ ए. विज्ञान प्रत्येक विषय की विज्ञप्ति है।[२]

विज्ञानस्कन्ध प्रत्येक विषय की विज्ञप्ति है। यह विषय विषय की (विषयं विषयं प्रति)[३] उपलब्धि[४] है (व्या ३८.२४)। विज्ञानस्कन्ध ६ विज्ञानकाय है--

[३१] चक्षुर्विज्ञान, श्रोत्र°, घ्राण°, जिह्वा°, काय°, मनो°। आयतन-देशना में (१.२० ए),

१६ बी. यह मन आयतन है।[१]

धातु-(१.२० ए) देशना में --

१६ सी-डी. यह ७ धातु हैं अर्थात् ६ विज्ञान और मनस्।[२] अर्थात् चक्षुर्विज्ञानधातु, श्रोत्र°, घ्राण°, जिह्वा°, काय°, मनोविज्ञानधातु, मनोधातु।

हमने कहा है कि ५ स्कन्ध, १२ आयतन, १८ धातु हैं।

१. रूपस्कन्ध १० आयतन, १० धातु और अविज्ञप्ति है।

२. वेदना°, संज्ञा° और संस्कारस्कन्ध तथा अविज्ञप्ति और असंस्कृत धर्मायतन, धर्मधातु हैं।

---

२ विज्ञानं प्रतिविज्ञप्तिः (२.३४)। [व्याख्या ३८.२२] चित्त और चैत्त, २.१७७.

३ अर्थात् संघभद्र के अनुसार : यद्यपि बहुरूपी आलम्बन वर्तमान हो तथापि चक्षुर्विज्ञान केवल रूप का ग्रहण करता है, शब्द का नहीं; यह नीलादि का ग्रहण करता है किन्तु यह निर्दिष्ट नहीं करता कि यह नीलादि है, यह सुखवेदनीय, दुःखवेदनीय है, पुरुष, स्त्री आदि है, यह मूल आदि......है" ......।

४ व्याख्या [३८.२४] 'उपलब्धि' का अर्थ 'वस्तुमात्रग्रहण' देती है और पुनः कहती है-- वेदनादयस्तु चैतसिका विशेषग्रहणरूपाः। [व्याख्या ३८.२५]
(बिब्लियोथिका बुद्धिका का यह पाठ अशुद्ध है: चैतसिकविशेषं)--"विज्ञान या चित्त वस्तुमात्र का ग्रहण करता है; चैतसिक या चित्तसंप्रयुक्त धर्म (२.२४) अर्थात् वेदनादि (वेदना संज्ञा......) विशेष अवस्था का ग्रहण करते हैं।"
यथा कायविज्ञान कर्कशत्व, श्लक्ष्णत्व आदि (१.१० डी) का ग्रहण करता है : यह सुखा वेदना से संप्रयुक्त होता है जो कर्कश या श्लक्ष्ण के अवस्थाविशेष, सुखवेदनीयता का ग्रहण करती है। चक्षुर्विज्ञान वर्ण (नीलादि) और संस्थान का ग्रहण करता है। यह संज्ञा नामक चैत्तविशेष से संप्रयुक्त होता है जो गृहीत वर्ण और संस्थान के निमित्तविशेष का ग्रहण करती है : "यह पुरुष है, यह स्त्री है, इत्यादि।" (१.१४ सी-डी).
यह वाद नागार्जुन के निकाय को मान्य है। मध्यमकवृत्ति, पृ० ६५, चित्तमर्थमात्रग्राहि चैत्ता विशेषावस्थाग्राहिणः सुखादयः ; दिग्नाग के सिद्धान्त का भी यही मत है, न्यायबिन्दु-टीका, पृ. १२, तिब्बती भाषान्तर, पृ. २५;
कोश के जापानी संपादक कोकी और विभाषा का उल्लेख करते हैं। इनमें इस प्रश्न पर ४ मत निर्दिष्ट हैं।
२.३४ बी-डी देखिए।

१ मन आयतनं च तत्।

२ [सप्त धातवश्च मतं] षड् विज्ञानान्यथो मनः ॥ [व्याख्या ३८.२७]

३. विज्ञानस्कन्ध मन-आयतन है; यह ७ धातु हैं अर्थात् ६ विज्ञानकाय (=विज्ञानधातु) और मनोधातु या मनस्।

**षण्णामनन्तरातीतं विज्ञानं यद्धि तन्मनः।**
**षष्ठाश्रयप्रसिद्ध्यर्थं धातवोऽष्टादश स्मृताः॥१७॥**

प्रश्न है कि ६ विज्ञानकाय अर्थात् ५ इन्द्रियविज्ञान और मनोविज्ञान से भिन्न मनस् या मनोधातु क्या हो सकता है। विज्ञान से भिन्न मनस् नहीं है।[3]

१७ ए-बी. इन ६ विज्ञानों में से जो विज्ञान अनन्तरातीत है वह मनस् है।[4]

[३२] जो जो विज्ञान समनन्तर निरुद्ध होता है वह वह मनोधातु की आख्या प्राप्त करता है: यथा वही पुत्र दूसरे के पिता की आख्या का लाभ करता है, वही फल दूसरे के बीज की आख्या प्राप्त करता है।

आक्षेप—यदि जो ६ विज्ञानधातु हैं वही मनस् हैं, यदि मनस् ६ विज्ञानों से अन्य नहीं है तो यदि ६ विज्ञान-धातुओं का ग्रहण करें तो इनमें मनोधातु का अन्तर्भाव होने से मनोधातु का कोई प्रयोजन नहीं है और इस प्रकार १७ धातु होते हैं अथवा यदि मनोधातु का ग्रहण करें तो इनमें षड् विज्ञानधातुओं का अन्तर्भाव होने से उनका कोई अर्थ नहीं है और इस प्रकार १२ धातु होते हैं। यह इस आधार पर है कि आप भिन्न द्रव्यों को गिनाना चाहते हैं, न कि केवल प्रज्ञप्तियों को।

---

3 विज्ञान आनुपूर्विक होते हैं; वह चक्षुर्विज्ञान......मनोविज्ञान हो सकते हैं। जो विज्ञान निरुद्ध होता है वह अन्य विज्ञान से अव्यवहित, अपने अनन्तर के विज्ञान का समनन्तर प्रत्यय (२.६२ ए) और आश्रय होता है। इस आकार में इसकी मनस्, मन-आयतन, मनोधातु, मन-इन्द्रिय (२.१) संज्ञा होती है। इसका अनन्तर-विज्ञान से वही सम्बन्ध है जो चक्षुरिन्द्रिय का चक्षुर्विज्ञान से है।

४ षण्णामनन्तरातीतं विज्ञानं यद्धि तन्मनः। [व्याख्या ३८.३१] (१.३९ ए-बी देखिए) व्याख्या के अनुसार योगाचार-दर्शन में षड्विज्ञान से व्यतिरिक्त एक मनोधातु, एक मनस् है। ताम्रपर्णीय मनोविज्ञानधातु का एक आश्रय कल्पित करते हैं (कल्पयन्ति); इसे वह 'हृदयवस्तु' कहते हैं; यह रूपी इन्द्रिय है। यह हृदयवस्तु आरूप्यधातु में भी विद्यमान होता है। इन आचार्यों को आरूप्यधातु में भी रूप अभिप्रेत है (८.३ सी) [व्याख्या ३९.२५]: 'आ' उपसर्ग को यह ईषत् के अर्थ में लेते हैं। यथा आपिंगल, 'ईषत् पिंगल'। पट्ठान (काम्पेण्डियम आफ फिलासफी, पृ० २७८ में उद्धृत) के अनुसार मनोविज्ञान का आश्रय एक रूप है किन्तु वह इस आश्रय को 'हृदयवस्तु' की आख्या नहीं देता। वह चक्षुर्विज्ञान के आश्रय का नाम 'चक्षु' बताता है किन्तु पीछे का अभिधम्म (विसुद्धिमग्ग, अभिधम्मत्थसंगह) हृदयवस्तु को मनोधातु का निश्रय मानता है। विभंग, पृ० ८८ की शिक्षा कम स्पष्ट है: "जो चक्षुर्विज्ञान, श्रोत्र°......कायविज्ञान समनन्तर निरुद्ध होता है उससे चित्त, मनस्, मानस (=मनस्), हृदय (=चित्त), मनस्, मन-इन्द्रिय......उत्पन्न होता है।" (अत्थसालिनी, ३४३)। हृदयवस्तु, काम्पेण्डियम, १२२, २७८, जे० पी० टी० एस० १८८४, २७-२९, अत्थसालिनी, १४०; मिसेज राइस डेविड्स, बुल० एस० ओ० एस०, ३. ३५३, जातकट्ठकथा से उद्धृत करती हैं:....हृदयमंसन्तरे पतिट्ठिता पञ्ञा; सिद्धि, २८१।

यह सत्य है किन्तु

१७ सी-डी. षष्ठ विज्ञानधातु का आश्रय प्रसिद्ध करने के लिए १८ धातु गिनाते हैं।[1]

प्रथम पाँच विज्ञानधातुओं के चक्षुरादि ५ रूपीन्द्रिय आश्रय हैं (१.४४ सी-डी भी देखिए)। षष्ठ विज्ञान, मनोविज्ञानधातु का ऐसा कोईआश्रय नहीं है। अतएव इस विज्ञानधातु का आश्रय प्रसिद्ध करने के लिए मनोधातु व्यवस्थापित करते हैं। जो इसका आश्रय होता है अर्थात् ६ [३३] विज्ञानधातुओं में से अन्यतम वह मनस् या मनोधातु अथवा मन-आयतन और मन-इन्द्रिय कहलाता है। इस प्रकार ६ आश्रय या इन्द्रिय, आश्रय-षट्क पर आश्रित ६ विज्ञान और ६ आलम्बन के व्यवस्थान से १८ धातु होते हैं।

आक्षेप––यदि निरुद्ध होने के अनन्तर जब विज्ञानधातु या चित्त अन्य विज्ञान का आश्रय होता है तब वह मनस् की आख्या प्राप्त करता है तो अर्हत् का चरम चित्त मनस् न होगा क्योंकि इसके अनन्तर अन्य चित्त उत्पन्न न होगा जिसका यह समनन्तरप्रत्यय और आश्रय हो (१.४४ सी-डी)।

यह चरम चित्त मनोभाव से, आश्रय भाव से अवस्थित होता है। यदि इसके अनन्तर उत्तर विज्ञान की संभूति नहीं होती अर्थात् पुनर्भव का प्रतिसन्धि-विज्ञान संभूत नहीं होता तो यह उसके स्वभावके कारण नहीं है। यह अन्य कारणों की विकलता से, उस कर्म और क्लेश के वैकल्य से होता है जो उत्तर विज्ञान के संभव के लिए आवश्यक हैं।

**सर्वसंग्रह एकेन स्कन्धेनायतनेन च।**
**धातुना च स्वभावेन परभाववियोगतः॥१८॥**

सर्व संस्कृत धर्म स्कन्ध-संग्रह में (१.७) संगृहीत हैं; सर्व सास्रव धर्म उपादानस्कन्ध-संग्रह में (१.८) संगृहीत हैं; सर्व धर्म आयतन-संग्रह और धातुसंग्रह में संगृहीत हैं (१.१४)।

किन्तु समासतः

१८ ए-बी. सर्व धर्म एक स्कन्ध, एक आयतन और एक धातु में संगृहीत हैं––[1]

रूपस्कन्ध, मन आयतन और धर्मधातु में।

१८. सी-डी. धर्म का संग्रह स्वभाव में होता है क्योंकि यह दूसरे के भाव से वियुक्त है।[2]

धर्म का संग्रह अपने से भिन्न भाव में नहीं होता। यथा चक्षुरिन्द्रिय का संग्रह रूपस्कन्ध [३४] में होता है क्योंकि यह रूप-स्वभाव है; चक्षुरायतन में, चक्षुर्धातु में होता है क्योंकि यह चक्षुरायतन चक्षुर्धातु है; दुःख-सत्य और समुदय-सत्य में होता है क्योंकि यह दुःख और समुदय है।

---

[1] **षष्ठाश्रयप्रसिद्ध्यर्थं धातवोऽष्टादश स्मृताः॥ [व्याख्या ४०.१४]**

[1] **एकेन स्कन्धायतनधातुना सर्वसंग्रहः।**
**अविज्ञप्ति रूपस्कन्ध और धर्मधातु में संगृहीत है।**

[2] **परभाववियुक्तत्वात् स्वभावेनैव संग्रहः॥**
**धातुकथापकरण, कथावत्थु, ७.१, धातुकाय, प्रकरण (नीचे १.२०, पृ.३९ नोट ३ देखिए) में संग्रह के प्रश्न का विचार किया गया है।**

किन्तु यह अन्य स्कन्धों में, अन्य आयतनादि में संगृहीत नहीं होता क्योंकि इसका भाव उनके भाव से वियुक्त है।

इसमें संदेह नहीं कि पर्षदों का संग्रह दानादि संग्रह वस्तुओं से[1] होता है: अतः भिन्न वस्तुओं का संग्रह एक दूसरे से होता है। किन्तु यह संग्रह कादाचित्क है और इसलिए पारमार्थिक नहीं है किन्तु सांकेतिक है।

**जातिगोचरविज्ञानसामान्यादेकधातुता।**
**द्वित्वेऽपि चक्षुरादीनां शोभार्थं तु द्वयोद्भवः ॥१९॥**

किन्तु यह कहा जायगा कि चक्षु, श्रोत्र और घ्राणेन्द्रियों का द्वित्व है। अतएव २१ धातु परिगणित होना चाहिए।

१९. चक्षु, श्रोत्र और घ्राणेन्द्रिय यद्यपि दो दो हैं तथापि एक एक धातु माने जाते हैं क्योंकि जाति, गोचर और विज्ञान में यह सामान्य हैं। शोभा के निमित्त इनका द्वित्व-भाव है।[2]

दोनों चक्षुरिन्द्रियों का जाति-सामान्य है क्योंकि दोनों चक्षुरिन्द्रिय हैं; इनका गोचर-सामान्य है क्योंकि दोनों का गोचर रूपधातु है; इनका विज्ञान-सामान्य भी है क्योंकि दोनों चक्षुर्विज्ञानधातु के आश्रय हैं। अतएव दो चक्षुरिन्द्रिय का एक ही धातु होता है। इसी प्रकार श्रोत्र और घ्राण की भी योजना करनी चाहिए।

यद्यपि यह मिलकर केवल एक धातु होते हैं तथापि इनकी उत्पत्ति शरीर की शोभा के लिए युग्म में होती है। एक चक्षु, एक श्रोत्राधिष्ठान, एक नासिका-बिल के होने से बड़ा वैरूप्य होगा (२.१ ए; १.४३, ३०)।[3]

**राश्यायद्वारगोत्रार्थाः स्कन्धायतनधातवः।**
**मोहेन्द्रियरुचित्रैधात् तिस्रः स्कन्धादिदेशनाः ॥२०॥**

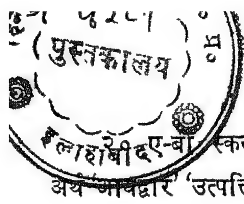
[३५] स्कन्ध, आयतन, धातु इन आख्याओं का क्या अर्थ है?

---

[1] दीघ, ३.२३२; धर्मसंग्रह, १९; महाव्युत्पत्ति, ३५ आदि।

[2] जातिगोचरविज्ञानसामान्यादेकधातुता।
द्वित्वेऽपि चक्षुरादीनां शोभार्थं तु द्वयोद्भवः ॥ [व्याख्या ४१.२७, ४२.४]

[3] केवल एक चक्षु, एक श्रोत्र, एक नासिका-पुट होने से अत्यन्त कुरूपता उत्पन्न होगी [व्याख्या ४२.५]। किन्तु उष्ट्र, मार्जार, उलूक प्रभृति अनेक पशुओं के आश्रय की शोभा दो चक्षु आदि के होने से भी नहीं होती: अन्य जातियों की अपेक्षा उनकी आश्रय-शोभा नहीं होती। किन्तु स्वजाति में जिसके एक ही चक्षु आदि होते हैं उसका अपेक्षाकृत वैरूप्य होता है। [व्याख्या ४२.७-१०]
संघभद्र 'शोभार्थम्' का अर्थ 'आधिपत्यार्थम्' करते हैं (२.१ देखिए)। लोक में वही शोभित होता है जो आधिपत्य-संपन्न है। जिनके एक ही चक्षु-अधिष्ठान होता है वह आधिपत्य से सम्पन्न नहीं होते अर्थात् उनका परिशुद्ध दर्शन नहीं होता क्योंकि एक चक्षु से वैसा परिशुद्ध दर्शन नहीं होता जैसा दो चक्षुओं से [व्याख्या ४२.११] ......। (१.४३)






२० ए-बी) स्कन्ध 'राशि ' को कहते हैं (विभाषा, ७४, पृ० ३८३) । आयतन का अर्थ 'आयद्वार' 'उत्पत्तिद्वार' है; धातु से आशय 'गोत्र' का है ।[1]

१. सूत्र में स्कन्ध 'राशि' को कहते हैं: "यत्किंचित् रूप अतीत हो या अनागत या प्रत्युत्पन्न, आध्यात्मिक हो या वाह्य, औदारिक (=स्थूल) हो या सूक्ष्म, हीन हो या प्रणीत (=उत्तम), दूर हो या अंतिक, इन सबको एकत्र कर रूपस्कन्ध होता है।"[2]

वैभाषिकों के अनुसार (१) अतीत रूप अनित्यता[3] से निरुद्ध रूप है, अनागत रूप अनुत्पन्न रूप है, प्रत्युत्पन्न रूप उत्पन्न और अनिरुद्ध रूप है; (२) रूप आध्यात्मिक है जब वह आत्मसन्तान में (१. ३९) पतित है; अन्य सब रूप वाह्य है; अथवा आध्यात्मिक [३६] और वाह्य आख्याएं आयतनतः समझी जाती हैं: चक्षुरिन्द्रिय आध्यात्मिक है क्योंकि यह स्वसन्तान या परसन्तान में पतित है; (३) रूप औदारिक है जब यह सप्रतिघ है (१. २९ बी), सूक्ष्म है जब यह अप्रतिघ है; अथवा यह दो आख्याएं आपेक्षिक हैं, आत्यन्तिक नहीं। क्या यह आक्षेप होगा कि इस द्वितीय विकल्प में औदारिक और सूक्ष्म सिद्ध नहीं होते क्योंकि एक ही रूप अपने से सूक्ष्म रूप की अपेक्षा औदारिक है और अपने से औदारिक रूप की अपेक्षा सूक्ष्म है? यह आक्षेप व्यर्थ है क्योंकि अपेक्षा-भेद नहीं है: जब एक रूप दूसरे रूप की अपेक्षा औदारिक होता है तो उसी की अपेक्षा कभी सूक्ष्म नहीं होता—पितृपुत्रवत्; (४) हीन रूप क्लिष्ट रूप है, प्रणीत रूप अक्लिष्ट रूप है; (५) अतीत या अनागत रूप दूर है, प्रत्युत्पन्न रूप अन्तिक है[1]। अन्य स्कन्धों की भी योजना इसी प्रकार होनी चाहिए। किन्तु यह विशेष है कि औदारिक विज्ञान वह है जिसका

---

[1] राश्यायद्वारगोत्रार्थाः स्कन्धायतनधातवः। [व्याख्या ४२.२६]

[2] संयुक्त, २५, २ : यत् किंचिद् रूपमतीतानागतप्रत्युत्पन्नं आध्यात्मिकं वा वाह्यं वा औदारिकं वा सूक्ष्मं वा हीनं वा प्रणीतं वा दूरं वा अन्तिकं वा तदेकध्यमभिसंक्षिप्याऽयमुच्यते रूपस्कन्धः। विभंग, पृ. १ से तुलना कीजिए।
व्याख्या के संस्करण में [व्याख्या ४२.३२] 'ऐकध्यम्' पाठ है किन्तु महाव्युत्पत्ति २४५, ३४३ का पाठ 'एकध्यमभिसंक्षिप्य' है। वोगिहारा सूचित करते हैं कि दिव्य, ३५, २४; ४०, २२ में 'एकध्ये' है।

[3] अनित्यतानिरुद्ध अर्थात् अनित्यता नामक संस्कृत-लक्षण (२.४५ सी-डी) से विनष्ट। [व्याख्या ४२.३२]
निरोध पांच प्रकार के हैं: (१) लक्षणनिरोध (२.४५ सी-डी) जो यहां अभिप्रेत है, (२) समापत्तिनिरोध (२.४१ सी), (३) उपपत्तिनिरोध (=आसंज्ञिक, २.४१ बी), (४) प्रतिसंख्यानिरोध (१.६ ए-बी), (५) अप्रतिसंख्यानिरोध (१.६ सी-डी)। यदि भाष्य में केवल 'अतीतं रूपम् निरुद्धं' होता तो 'निरुद्ध' शब्द के अविशेषित होने से निरोध २-५ का भी प्रसंग होता किन्तु निरोध २-३ अनागत चित्त-चैत्त का निरोध है; चौथा निरोध सास्रव चित्त-चैत्त का निरोध है और पाँचवां निरोध अनुत्पत्तिधर्मा अनागत धर्मों का निरोध है। [व्याख्या ४३.२]

[1] आर्यदेव, शतक, २५८ सिद्ध करता है कि यह लक्षण अनागतास्तित्ववाद के विरुद्ध है। दूरता, कथावत्थु, ७.५.

आश्रय पांच विज्ञानकाय हैं, सूक्ष्म विज्ञान मनोविज्ञान है; अथवा विज्ञान अधर या ऊर्ध्व स्वभूमि के अनुसार औदारिक या सूक्ष्म होता है ।

भदन्त के[२] अनुसार (१) औदारिक रूप वह है जो पंचेन्द्रिय से ग्राह्य है, अन्य सर्व रूप सूक्ष्म है; (२) 'हीन' का अर्थ अमनाप (=मन को न भाने वाला) है, 'प्रणीत' का अर्थ मनाप(=मन को भाने वाला) है; (३) दूर रूप वह है जो अदृश्य देश में है, अन्तिक रूप [३७] वह है जो दृश्य देश में है: वैभाषिकों का व्याख्यान सुष्ठु नहीं है क्योंकि अतीतादि रूप स्वशब्द से पहले ही अभिहित हो चुका है। इसी प्रकार वेदना को समझना चाहिए। आश्रयवश इनका दूरत्व, अन्तिकत्व होता है। यदि वेदना का आश्रय अदृश्यमान है तो वेदना दूर है, यदि दृश्यमान है तो वेदना अन्तिक है। यदि यह कायिकी है तो औदारिक है, यदि चैतसिकी है तो सूक्ष्म है (२.७) ।

२. 'आयतन' का अर्थ "चित्त-चैत्त (२.२३) का आयद्वार" है। नैरुक्तिक विधि से 'आयतन' उन्हें कहते हैं जो चित्त-चैत्त के आय को फैलाते हैं (तन्वन्ति)।[१] [व्याख्या ४५.४]

३. 'धातु' का अर्थ गोत्र है।[२] यथा वह स्थान अर्थात् पर्वत जहाँ लौह, ताम्र, रजत, सुवर्ण धातुओं के बहु गोत्र पाए जाते हैं 'बहुधातुक' कहलाता है उसी प्रकार एक आश्रय या सन्तान में १८ प्रकार के 'गोत्र' पाए जाते हैं जो १८ धातु कहलाते हैं।

अतएव 'गोत्र' से 'आकर' का बोध होता है।[३] चक्षुर्धातु किसका आकर है? अन्य धातु किसके आकर हैं?

धातु स्वजाति के (स्वस्या जातेः) आकर हैं: पूर्वोत्पन्न चक्षु चक्षु के पश्चिम क्षणों का सभागहेतु (२.५२) है। इस लिए यह चक्षुका आकर, धातु है।

किन्तु उस अवस्था में क्या असंस्कृत जो नित्य हैं धातु नहीं हो सकते? हमारा कहना है कि वह चित्त-चैत्त के आकर हैं ।

---

[२] युआन्-चाङ् का अनुवाद—भदन्त धर्मत्रात । किन्तु व्याख्या [४४.१४] में है—भदन्त अर्थात् स्थविर सौत्रान्तिक अथवा इस नाम का कोई स्थविर सौत्रान्त्रिक । भगवद्विशेष का कहना है कि यह स्थविर धर्मत्रात हैं। हमारा इसमें आक्षेप है। धर्मत्रात अतीतानागतास्तित्ववादी हैं। इसलिए यह सर्वास्तिवादी हैं और यहां सौत्रान्तिक अर्थात् दार्ष्टान्तिक का प्रयोजन है। भदन्त धर्मत्रात सर्वास्तिवाद के एक वाद का समर्थन करते हैं जिसका निर्देश आगे चलकर (५.२५) होगा। भदन्त सौत्रान्तिक दर्शनावलम्बी हैं जिनका उल्लेख विभाषा केवल 'भदन्त' के नाम से करती है। विभाषा में भदन्त धर्मत्रात का अपने नाम से उल्लेख ह। अतः यहां धर्मत्रात से अन्य कोई सौत्रान्तिक स्थविर भिक्षु अभिप्रेत है।
जापानी संपादक विभाषा, ७४, ९ का हवाला देते हैं जहां कहा है कि धर्मत्रात यह नहीं स्वीकार करते कि धर्मायतन रूप है (४.४ ए-बी देखिए) ।

[१] विभाषा, ७३, १२ में 'आयतन' शब्द के अर्थ पर २० मत निर्दिष्ट हैं—मध्यमकवृत्ति, पृ.५५२ में कोशवर्णितलक्षण दिया है। अत्थसालिनी, १४०-१

[२] विभाषा, ७१, ७ में ११ निर्वचन हैं। यहां पहला निर्वचन दिया है।

[३] 'सुवर्णगोत्र' इस पद में गोत्र का अर्थ 'आकर' है। असंग, सूत्रालंकार, ३.९ और अनुवादक की टिप्पणी ।

एक दूसरे मत के अनुसार 'धातु' का अर्थ 'जाति' है। १८ धातुओं से १८ पृथक् धर्मों का स्वभावविशेष समझा जाता है।

४. आक्षेप[४]——१. यदि स्कन्ध का अर्थ 'राशि' है तो स्कन्ध केवल प्रज्ञप्तिसत् हैं, [३८] द्रव्यसत् नहीं हैं क्योंकि समुदित, संचित द्रव्य नहीं है यथा धान्यराशि, यथा पुद्गल।[1] वैभाषिक[2] कहता है——नहीं, क्योंकि परमाणु स्कन्ध है। इस विकल्प में, जब कि परमाणु का राशित्व नहीं है, यह न कहिए कि स्कन्ध का अर्थ 'राशि' है।

२. एक दूसरे मत के अनुसार (विभाषा, ७९, ५) स्कन्ध का अर्थ इस प्रकार है—— जो अपने कार्य-भार का उद्वहन करता है।[3] अथवा 'स्कन्ध' का अर्थ प्रच्छेद, अवधि[4] है; यथा लोक में कहते हैं: "यदि तुम मुझे तीन स्कन्ध वापिस करने का वचन दो तो मैं तुम्हें दूँगा"।[5]

यह दो अर्थ उत्सूत्र हैं।[6] वास्तव में सूत्र में स्कन्ध का अर्थ 'राशि' है, अन्य अर्थ नहीं है: "यत्किंचित् रूप अतीत, अनागत, प्रत्युत्पन्न....है यदि यह सब रूप एकत्र हो....।"

३. वैभाषिक कहता है: सूत्र में उक्त है कि सर्व रूप, अतीत रूप, अनागत रूपादि, इनमें से एक-एक स्कन्ध है यथा इसकी शिक्षा है कि एक एक केशादि द्रव्य पृथ्वीधातु है (नीचे पृ. ४९, नोट. २)। इसलिए अतीत, अनागत आदि रूप का प्रत्येक (परमाणु) द्रव्य 'स्कन्ध' कहलाता है। अतएव स्कन्ध द्रव्यसत् हैं, प्रज्ञप्ति-सत् नहीं।

[३९] यह अर्थ अग्राह्य है क्योंकि सूत्रवचन है कि "··· यदि यह सर्व रूप एकत्र अभिसंक्षिप्त हो तो यह रूपस्कन्ध है।"

४. सौत्रान्तिकः यदि ऐसा है तो रूपी आयतन——इन्द्रिय और पाँच विज्ञानकायों के आलम्बन——केवल प्रज्ञप्तिसत् हैं क्योंकि चित्त-चैत्तों की आयद्वारता एक-एक परमाणु-द्रव्य की नहीं होती किन्तु चक्षुरिन्द्रिय-रूपादि परमाणु-संचित की होती है।

---

४ वैभाषिक का मत है कि स्कन्ध, आयतन और धातु द्रव्यसत् हैं; सौत्रान्तिक धातुओं को द्रव्यसत् और स्कन्ध तथा आयतनों को 'प्रज्ञप्तिसत्' मानते हैं। वसुबन्धु स्कन्धों को प्रज्ञप्ति-सत्, आयतन तथा धातुओं को द्रव्यसत् मानते हैं।

१ पुद्गलवाद का विचार कोशप्रतिबद्ध पुद्गलप्रकरण में किया गया है। शरबात्स्की ने इसका अनुवाद दिया है, ऐकेडमी आफ पैट्रोग्राड, १९२०.

२ संघभद्र : "यह आक्षेप युक्त नहीं है। स्कन्ध का अर्थ 'राशि' नहीं है किन्तु वह जो राशीकृत, संचित हो सकता है···।

३ यथा लोक में स्कन्ध कन्धे को कहते हैं उसी प्रकार नाम-रूप स्कन्धद्वय हैं जो षडायतन (३.२१) का वहन करते हैं।

४ रूपप्रच्छेद, वेदनाप्रच्छेद......

५ परमार्थः "मैं तुमको ३ स्कन्ध वापिस करूँगा।"
तिब्बती = देयस्कन्धत्रयेण दातव्यम् (?)

६ उत्सूत्र, महाभाष्य, १. पृ. १२, कीलहार्न, जे० आर० ए० एस० १९०८, पृ० ५०१।

उत्तर---इन परमाणुओं में से प्रत्येक की 'चित्तायद्वारता' होती है, प्रत्येक का विज्ञान-कारणभाव होता है (१.४४-ए-बी ३ से तुलना कीजिये)। यदि आप इस वाद को स्वीकार नहीं करते तो आप समग्र इन्द्रिय के विज्ञान-कारणभाव का निषेध करते हैं क्योंकि विषय-सह-कारिता के बिना इन्द्रिय अकेला विज्ञान का उत्पाद नहीं करता।

५. दूसरी ओर विभाषा (७४.११) का यह कथन है: "जब आभिधार्मिक को[1] यह अपेक्षित है कि 'स्कन्ध' आख्या राशि[2] की प्रज्ञप्ति-मात्र है तब वह कहता है कि परमाणु एक धातु, एक आयतन, एक स्कन्ध का प्रदेश है। जब वह स्कन्ध-प्रज्ञप्ति की अपेक्षा नहीं करता तब वह कहता है कि परमाणु एक धातु, एक आयतन, एक स्कन्ध[3] है। वास्तव में प्रदेश में प्रदेशी का उपचार होता है, यथा "पट का एक देश दग्ध है" इसके लिए 'दग्ध पट है' ऐसा कहते हैं।

भगवत् ने धर्मों का स्कन्ध, आयतन और धातु ऐसा त्रिविध वर्णन क्यों किया है?

[४०] २० सी-डी. स्कन्धादि त्रय की देशना इसलिए है क्योंकि मोह, इन्द्रिय और रुचि के तीन-तीन प्रकार हैं।[1]

१. मोह या संमोह त्रिविध है: एक चैत्तों का पिंडतः ग्रहण कर उन्हीं को आत्मतः ग्रहण करते हैं और इस प्रकार संमूढ़ होते हैं; एक रूपपिंड को ही आत्मतः गृहीत कर संमूढ़ होते हैं; एक रूप और चित्त का पिंडात्मतः ग्रहण कर (पिंडात्मग्रहणतः) संमूढ़ होते हैं।

२. श्रद्धादि इन्द्रिय (२.३ सी-डी), प्रज्ञेन्द्रिय (२.२४) त्रिविध हैं---
अधिमात्र (=तीक्ष्ण), मध्य, मृदु।

३. रुचि (अधिमोक्ष) त्रिविध है: एक की संक्षिप्त रुचि होती है, एक की मध्य, एक की विस्तीर्ण।

स्कन्ध-देशना पहले प्रकार के श्रावकों के लिए है जो चैत्तों के विषय में सम्मूढ़ होते हैं, जिनकी इन्द्रियाँ अधिमात्र हैं, जिनकी संक्षिप्त देशना में रुचि होती है।

---

[1] आभिधार्मिक सदा स्पष्ट रूप से वैभाषिक से पृथक् निर्दिष्ट नहीं है।

[2] स्कन्धप्रज्ञप्तिमपेक्षते।

[3] प्रकरणपाद, अध्याय ६ (२३.१०, फ़ोलिओ ४७) से तुलना कीजिए:
चक्षुर्धातु एक धातु, एक आयतन, एक स्कन्ध में संगृहीत है; परचित्तज्ञान, निरोधज्ञान, मार्गज्ञान को वर्जित कर शेष ७ ज्ञानों से (कोश ७) यह ज्ञेय है; यह एक विज्ञान से विज्ञेय है; यह कामधातु और रूपधातु में होता है; यह भावनाहेय अनुशयों से प्रभावित होता है (कोश ५ देखिए)।
धातुकथापकरण (पी०टी० एस १८९२) पृ० ६: चक्खुधातु एकेन खन्धेन एकेनायतनेन एकाय धातुया संगहिता।

[1] मोहेन्द्रियरुचित्रैधात् स्कन्धादित्रयदेशना ॥ [व्याख्या ४७.१५]
विभाषा, ७१, ४ के अनुसार।

आयतन-देशना दूसरे प्रकार के लिए है और धातु-देशना तीसरे प्रकार के लिए है।[२]

**विवादमूलसंसारहेतुत्वात् क्रमकारणात्।**
**चैत्तेभ्यो वेदनासंज्ञे पृथक् स्कन्धौ निवेशितौ ॥२१॥**

वेदना और संज्ञा पृथक् पृथक् स्कन्ध हैं: अन्य सब चैत्त धर्म (२.२४) संस्कारस्कन्ध (१.१५) में संगृहीत हैं। इसका क्या कारण है?

२१. क्योंकि वह विवाद के मूल हेतु हैं, क्योंकि वह संसार के कारण हैं और स्कन्धों के [४१] क्रम (१.२२ बी) के कारण दो चैत्त--वेदना और संज्ञा--पृथक् स्कन्ध व्यवस्थित होते हैं।[१]

१. दो विवाद-मूल हैं[२]: कामाध्यवसाय (अभिष्वंग) [व्या० ४८.१६ में अध्यवसान] और दृष्टि-अभिष्वंग। इन दो मूलों के प्रधान हेतु यथाक्रम वेदना और संज्ञा हैं। वास्तव में वेदना के आस्वादवश कामाभिष्वंग होता है और विपरीतसंज्ञावश (५.९) दृष्टियों में अभिष्वंग होता है।

२. वेदना और संज्ञा संसार के कारण हैं: जो वेदनागृद्ध है और जिसकी संज्ञा विपर्यस्त है वह संसार में जन्मपरंपरा करता है।

३. जो कारण स्कन्धों के अनुक्रम को युक्त सिद्ध करते हैं उनका निर्देश नीचे (१.२२ बी-डी) होगा।

**स्कन्धेष्वसंस्कृतं नोक्तमर्थायोगात् क्रमः पुनः।**
**यथौदारिकसंक्लेशभाजनाद्यर्थधातुतः ॥२२॥**

असंस्कृत जो धर्मायतन और धर्मधातु (१.१५ डी) में संगृहीत हैं, स्कन्धों में संगृहीत क्यों नहीं हैं?

२२ ए-बी. असंस्कृत स्कन्धों में वर्णित नहीं है क्योंकि अर्थ का योग नहीं है।[३]

---

[२] स्कन्ध-देशना तीक्ष्णेन्द्रिय (प्रज्ञेन्द्रिय) पुद्गलों के लिए है। यथा--यद् भिक्षो न त्वं स ते धर्मः प्रहातव्यः। आज्ञातम् भगवन् [व्याख्या, भगवन्नित्याह]। कथमस्य भिक्षो संक्षिप्तेनोक्तार्थमाजानासि। रूपं भदन्त नाहं स मे धर्मः प्रहातव्यः। [व्याख्या ४८.२]
तीन प्रकार की इन्द्रियों के अनुरूप तीन प्रकार के श्रावक हैं--उद्घटितज्ञ, अविपंचितज्ञ [व्याख्या में विपंचितज्ञ], पदंपरम [व्याख्या में पदपरम] (पुग्गल-पञ्ञत्ति, पृ० ४१; सूत्रालंकार, अनुवाद पृ. १४५)। [व्याख्या ४७.३४]

[१] विवादमूलसंसार [कारणात्] क्रमकारणात्।
[चैत्तेभ्यो वेदनासंज्ञे पृथक् स्कन्धौ व्यवस्थिते] ॥
धर्मस्कन्ध, ९, १० : विभाषा, ७४, १४.

[२] ६ विवादमूल दीघ, ३.२४६ आदि में।

[३] [स्कन्धेष्वसंस्कृतं नोक्तम्] अर्थायोगात्
विभाषा, ७४, १०.

१. पांच स्कन्धों में से किसी में भी असंस्कृत अन्तर्नीत नहीं हो सकता है क्योंकि यह रूप-स्वभाव, वेदनास्वभाव ..... नहीं है।

२. असंस्कृत को षष्ठ स्कन्ध भी नहीं कह सकते। इसके साथ स्कन्ध के अर्थ का अयोग है क्योंकि स्कन्ध का अर्थ 'राशि' 'समुदाय-लक्षणत्व' है। रूप के सम्बन्ध में सूत्र ने जो कहा है वह असंस्कृत के सम्बन्ध में नहीं कहा जा सकता :

"यदि अतीतादि ..... सर्व असंस्कृत को एकत्र करें तो असंस्कृतस्कन्ध होगा" क्योंकि असंस्कृत में अतीतादि विशेष का अभाव है।

[४२] ३. पुनः उपादानस्कन्ध (१.८ ए) संक्लेशवस्तु को ज्ञापित करता है; 'स्कन्ध' से संक्लेशवस्तु (सास्रव संस्कृत) और व्यवदान-वस्तु (अनास्रव संस्कृत—मार्ग) दोनों ज्ञापित होते हैं। इसलिए असंस्कृत जो न संक्लेशवस्तु है और न व्यवदान-वस्तु, उपादानस्कन्धों में या स्कन्धों में संगृहीत नहीं हो सकता।

४. एक मत के अनुसार यथा घट का उपरम घट नहीं है उसी प्रकार असंस्कृत जो स्कन्धों का उपरम या निरोध है स्कन्ध नहीं है (विभाषा, ७४, १६)।—किन्तु इस युक्ति के अनुसार आयतन और धातु में भी असंस्कृत व्यवस्थापित न होगा। हम स्कन्धों का लक्षण बता चुके हैं। अब स्कन्धों के क्रम का निरूपण करते हैं।

२२ बी-डी. औदारिकभाव, संक्लेश-भाव, भाजनत्व आदि से तथा अर्थधातुओं की दृष्टि से भी स्कन्धों का क्रम युक्त है।[1]

१. सप्रतिघ होने से (१.२९ बी) स्कन्धों में रूप सबसे औदारिक है। अरूपी स्कन्धों में प्रचार की औदारिकता से वेदना सबसे औदारिक है: वास्तव में हस्तपादादि में वेदना का व्यपदेश होता है। अन्तिम दो स्कन्धों से संज्ञा औदारिक है। विज्ञान सर्वसूक्ष्म है। संस्कार-स्कन्ध विज्ञानस्कन्ध से औदारिक है—अतः स्कन्धों का अनुक्रम क्षीयमाण औदारिकता के क्रम के अनुसार है।

२. अनादि संसार में स्त्री-पुरुष अन्योन्य रूपाभिराम होते हैं क्योंकि वह वेदनास्वाद में आसक्त हैं। यह आसक्ति संज्ञा-विपर्यास से प्रवृत्त होती है। संज्ञा-विपर्यास संस्कार-भूत क्लेशों के कारण होता है और यह चित्त (विज्ञान) है जो क्लेशों से संक्लिष्ट होता है।

अतः संक्लेश की प्रवृत्ति के अनुसार स्कन्धों का क्रम है।

[४३] रूप भाजन है, वेदना भोजन है, संज्ञा व्यंजन है, संस्कार पक्ता है, विज्ञान या चित्त भोक्ता है। स्कन्धों के क्रम को युक्त सिद्ध करने में यह तीसरी युक्ति है।

४. अंततः, धातुतः (२.१४) विचार करने पर हम देखते हैं कि कामधातु रूप से अर्थात् पाँच कामगुणों से प्रभावित, प्रकर्षित है (धर्मस्कन्ध, ५.१०, विभाषा, ७३, २, कथावत्थु,

---

[1] **क्रमः पुनः। यथौदारिकसंक्लेशभाजनाद्यर्थधातुतः ॥ [व्याख्या ४८.२६] विभाषा, ७४, २२ के अनुसार।**

८.३ से तुलना कीजिए)। रूपधातु अर्थात् चार ध्यान वेदना से (सुखेन्द्रिय, सौमनस्येन्द्रिय, उपेक्षेन्द्रिय, ८.१२) प्रभावित हैं।

प्रथम तीन आरूप्य संज्ञा से प्रभावित हैं: अनन्ताकाशसंज्ञादि (८. ४)। चतुर्थ आरूप्य अथवा भवाग्र संस्कार मात्र (चेतना) से प्रभावित हैं। वहाँ चेतना ८० सहस्र कल्प (३.८१ सी) की आयु आक्षिप्त करती है। अन्ततः यह विविध भूमि 'विज्ञानस्थिति' (३. ६) हैं: इन स्थानों में विज्ञान प्रतिष्ठित है। स्कन्धों का अनुक्रम क्षेत्र-बीज संदर्शनार्थ है। पहले चार स्कन्ध क्षेत्र हैं; पाँचवाँ बीज है।

अतएव पाँच स्कन्ध हैं, न कम, न अधिक। हम देखते हैं कि जो युक्तियाँ स्कन्धों के क्रम को युक्त सिद्ध करती हैं वह इस वाद को भी युक्त सिद्ध करती हैं जो वेदना और संज्ञा को पृथक् पृथक् स्कन्ध व्यवस्थित करता है। यह अन्य संस्कारों से औदारिक हैं; यह संक्लेश की प्रवृत्ति के कारण हैं; यह भोजन और व्यंजन हैं; इनका दो धातुओं पर आधिपत्य है।

**प्राक् पंच वर्तमानार्थ्याद् भौतिकार्थ्याच्चतुष्टयम्।**
**दूराशुतरवृत्त्यान्यद् यथास्थानं क्रमोऽथवा ।।२३।।**

अब उस क्रम का निर्देश करना है जिसके अनुसार चक्षुरादि ६ इन्द्रिय, ६ आयतन या धातु परिगणित हैं; उस क्रम को बताना है जिसके अनुसार विषय और इन इन्द्रियों के विज्ञान (रूपधातु, चक्षुर्विज्ञानधातु........) परिगणित हैं।

२३ ए. पहले पाँच पूर्वोक्त हैं क्योंकि उनका विषय वर्तमान है।[1]

[४४] चक्षुरादि पाँच इन्द्रिय पूर्व कहे गए हैं क्योंकि उनका विषय वर्तमान, सहोत्पन्न है। इसके विपरीत मन-इन्द्रिय (मनस्) का विषय अनियत है। किसी का विषय (१) वर्तमान, सहोत्पन्न (२) किसी का पूर्व या अतीत (३) किसी का अपर या अनागत (४) किसी का त्र्यध्व अर्थात् वर्तमान, पूर्व, अपर और (५) किसी का अनध्व होता है।

२३ बी. प्रथम चार पूर्व उक्त हैं क्योंकि उनका विषय केवल भौतिक रूप है।[1]

चक्षुरिन्द्रिय, श्रोत्र०, घ्राण० और जिह्वेन्द्रिय महाभूत (१.१२) को प्राप्त नहीं होते किन्तु केवल उपादायरूप (भौतिक, २.५०ए, ६५) को प्राप्त होते हैं।

कायेन्द्रिय का विषय अनियत है (१. ३५ए-बी, १० डी): कदाचित् महाभूत, कदाचित् उपादायरूप, कदाचित् उभय, इसके विषय होते हैं।

२३ सी. यह चार दूर-आशुतरवृत्ति के कारण यथायोग इतर से पूर्व कह गए हैं।[2]

इनकी वृत्ति दूर, दूरतर, आशुतर है।

---

[1] **पंचाग्र्यावर्तमानार्थ्यात्।**

[1] **भौतिकार्थ्याच्चतुष्टयम् [व्याख्या ५०.३१ में पाठ भौतिकार्था० है]**

[2] **दूराशुतरवृत्त्यान्ये**

चक्षुरिन्द्रिय और श्रोत्रेन्द्रिय के विषय दूर (१. ४३सी-डी) होते हैं। अतः यह दो से पूर्व उक्त हैं।

इनमें भी चक्षुरिन्द्रिय की वृत्ति श्रोत्रेन्द्रिय की अपेक्षा दूरतर है: क्योंकि दूर से नदी को देखते हैं किन्तु उसका शब्द नहीं सुनते। अतः चक्षुरिन्द्रिय श्रोत्र० से पूर्व उक्त है।

घ्राण और जिह्वा की वृत्ति दूर नहीं है। किन्तु घ्राण की वृत्ति जिह्वा की वृत्ति से आशुतर है। जिह्वा से अप्राप्त भोज्य पदार्थ के गन्ध का ग्रहण घ्राण करता है।

२३ ड़ी. अथवा इन्द्रियों का क्रम उनके आश्रय के अनुसार है।[3]

चक्षुरिन्द्रिय का आश्रय या अधिष्ठान अर्थात् चक्षु, सब से ऊपर है; उसके नीचे श्रोत्रेन्द्रिय का अधिष्ठान है; उसके नीचे घ्राणेन्द्रिय का अधिष्ठान है;

[४५] सब से नीचे जिह्वेन्द्रिय का अधिष्ठान है। कायेन्द्रिय अर्थात् काय का अधिष्ठान अपने समुदाय-रूप में जिह्वा के और नीचे है। मन-इन्द्रिय रूपी नहीं है (१. ४४ ए-बी)।

**विशेषणार्थं प्राधान्याद् बहुधर्माग्रसंग्रहात्।**
**एकमायतनं रूपमेकं धर्माख्यमुच्यते ॥२४॥**

रूपस्कन्ध में संगृहीत १० आयतनों में एक ही रूपायतन की आख्या प्राप्त करता है। यद्यपि सब आयतन धर्म हैं तथापि केवल एक धर्म-आयतन कहलाता है। क्यों?

२४. दूसरों से उसे विशेषित (=विभिन्न) करने के लिए, अपनी प्रधानता के कारण, एक ही आयतन रूप-आयतन कहलाता है। दूसरों से उसे विशेषित करने के लिए और इसलिए कि उसमें बहु धर्म और सर्वोत्कृष्ट धर्म संगृहीत हैं केवल एक आयतन धर्म-आयतन कहलाता है।[1]

दस रूपी आयतनों में से (१. १४ए-बी) प्रत्येक आयतन है: विज्ञान-विशेषों के ५ विषयी हैं और ५ विषय हैं। समस्त का एक ही आयतनत्व नहीं है, एक ही विज्ञान-प्रभव नहीं है जिसे रूपायतन कहें।

९ के विशेषणार्थ अपने विशेष नाम हैं: चक्षुरायतन, श्रोत्रायतन, शब्दायतन.........। जो चक्षुरादि ९ से विशेषित है, जिसकी चक्षुरादि संज्ञा नहीं है और जो रूप है वह रूपायतन संज्ञा से जाना जायगा और इसलिए उसको नामान्तर नहीं देते।

---

[3] **अथवा [यथाश्रयं] क्रमः ॥**

[1] **विशेषणार्थं प्राधान्याद् बह्वग्रधर्मसंग्रहात्।**
**रूपायतनमेवैकम् एकं च धर्मसंज्ञकम् ॥**
**विभाषा, ७३, १४ ग्यारह युक्तियां गिनाती है जो रूपायतन, धर्मायतन इन आख्याओं को युक्त सिद्ध करती हैं।**

किन्तु अन्य ९ आयतन भी आयतन और रूप हैं। फिर रूप-आयतन के नाम के लिए चक्षुरिन्द्रिय का विषय ही क्यों चुना गया? उसकी प्रधानता के कारण । यह रूप है (१) बाधनलक्षणरूपण के कारण: क्योंकि यह सप्रतिघ है; इसमें पाण्यादि-संस्पर्श से 'रूपण' होता है; (२) देशनिदर्शनरूपण के कारण (१. १३, पृ. २५) : इसके सम्बन्ध में यह सूचित कर सकते हैं कि यह यहाँ है, वहाँ है; (३) लोक-प्रतीति से: जिसे लोक में 'रूप' कहते हैं वह वर्ण-संस्थान है।

[४६] धर्मायतन को (१. १५ बी-डी) अन्य आयतनों से विशेषित करने के लिए धर्मायतन कहा है। पूर्वोक्त निरूपण के अनुसार इसका भी निर्देश है। इसमें वेदना, संज्ञा आदि बहु धर्म संगृहीत हैं। इसमें सर्वोत्तम धर्म निर्वाण संगृहीत है। इसीलिए प्राधान्य के कारण इसे धर्मायतन यह सामान्य नाम दिया गया है।

एक दूसरे मत के अनुसार[1] रूप रूपायतन कहलाता है क्योंकि इसमें (नीलादि) २० प्रकार संगृहीत हैं, क्योंकि यह मांसचक्षु, दिव्यचक्षु, प्रज्ञाचक्षु (इतिवुत्तक, ६१) इन तीन चक्षुओं का गोचर है।

**धर्मस्कन्धसहस्राणि यान्यशीतिं जगौ मुनिः ।**
**तानि वाङ्नाम वेत्येषां रूपसंस्कारसंग्रहः ॥२५॥**

सूत्रों में अन्य स्कन्ध, अन्य आयतन, अन्य धातु वर्णित हैं।

क्या यह पूर्वोक्त स्कन्ध, आयतन, धातुओं में संगृहीत हैं?

२५. जिन ८०,००० धर्मस्कन्धों को मुनि ने कहा है उनका संग्रह रूपस्कन्ध में होता है यदि वह वाक्-स्वभाव के माने जाते हैं और संस्कारस्कन्ध में होता है यदि वह नाम-स्वभाव के माने जाते हैं।[2]

---

[1] यह धर्मत्रात का मत है (नैन्जियो १२८७), १. १७.

[2] धर्मस्कन्धसहस्राणि अशीतिर्यान्यवदन्मुनिः ।
तानि वाग् नाम वा तेषां रूपसंस्कारसंग्रहः ॥
वसुमित्र,बहुश्रुतीय, वाद १—देशनास्वभाव, डेमीविल, मिलिन्द ५२-५७, ६२, सिद्धि, ७९५—दशभूमि, ७४: चतुरशीतिक्लेशचरितनानात्वसहस्र. ८४००० में से २००० शारिपुत्र के हैं।
(१) सौत्रान्तिकों के अनुसार बुद्ध-वचन वाग्विज्ञप्ति (४.३ डी) है; निकायान्तरीय के अनुसार यह नामन् है। आभिधार्मिकों को इष्ट है कि बुद्ध-वचन उभयस्वभाव है। यहां व्याख्या ज्ञानप्रस्थान, १२, १५ (बुद्धिस्ट कास्मालॉजी, पृ. ७ नोट) उद्धृत करती है। [व्याख्या ५२.१५]
(२) एक दूसरे निकाय में सूत्रपाठ है कि ८४००० धर्मस्कन्ध हैं। सूत्र में आनन्द कहते हैं कि "मैंने भगवत् से ८०,००० से अधिक धर्मस्कन्ध उद्गृहीत किए हैं: सातिरेकाणि मेऽशीतिर्धर्मस्कन्धसहस्राणि भगवतोऽन्तिकात् सम्मुखमुद्गृहीतानि। [व्याख्या ५२.२४] (बर्नूफ़, भूमिका पृ.३४ देखिए; सुमंगलविलासिनी, १.पृ.२४; थेरगाथा १०२४, नागार्जुन के अकुतोभय में प्रज्ञापारमिता, १.८, अवदानशतक, २.१५५)।

जो दार्शनिक यह कहते हैं कि "बुद्ध-वचन वाक्-स्वभाव है" उनके मत में यह स्कन्ध रूप-स्कन्ध में संगृहीत होते हैं। जो बुद्ध-वचन को नाम-स्वभाव मानते हैं उनके लिए यह स्कन्ध संस्कार-स्कन्ध में संगृहीत होते हैं (२. ३६, ४७ ए-बी)।

**शास्त्रप्रमाण इत्येके स्कन्धादीनां कथैकशः।**

**चरितप्रतिपक्षस्तु धर्मस्कन्धोऽनुवर्णितः॥२६॥**

धर्मस्कन्ध का प्रमाण क्या है?

[४७] २६ ए. कुछ के अनुसार इसका वही प्रमाण है जो शास्त्र का प्रमाण है[1] अर्थात् धर्मस्कन्ध-संज्ञक अभिधर्मशास्त्र का प्रमाण जिसमें ६००० गाथाएं हैं।[2]

२६ बी. स्कन्धादि की एक-एक कथा एक-एक धर्मस्कन्ध है।[3] एक दूसरे मत के अनुसार स्कन्ध, आयतन, धातु, प्रतीत्यसमुत्पाद, आर्यसत्य, आहार, ध्यान, अप्रमाण, आरूप्य, विमोक्ष, अभिभ्वायतन, कृत्स्नायतन, बोधिपक्षिक, अभिज्ञा, प्रतिसंविद्, प्रणिधिज्ञान, अरणा आदि का एक-एक आख्यान (कथा) एक-एक धर्मस्कन्ध है।

२६ सी-डी. वास्तव में प्रत्येक धर्मस्कन्ध एक एक चरित के विनेयजन के प्रतिपक्ष के लिए अनुवर्णित है।[4]

चरित के भेद से (२.२६) सत्त्वों की संख्या ८०,००० है। कोई रागचरित होते हैं, कोई द्वेषचरित, कोई मोहचरित, कोई मानचरित आदि। भगवत् ने ८०,००० धर्मस्कन्ध इन सत्वों के प्रतिपक्ष के लिए वर्णित किये हैं।

**तथान्येऽपि यथायोगं स्कन्धायतनधातवः।**

**प्रतिपाद्या यथोक्तेषु संप्रधार्य स्वलक्षणम्॥२७॥**

यथा धर्मस्कन्ध रूपस्कन्ध या संस्कारस्कन्ध में गृहीत होते हैं

२७. उसी प्रकार अन्य स्कन्ध, आयतन और धातुओं को उनके व्यवस्थापित स्वलक्षण को

[४८] विचारकर पूर्वोक्त स्कन्ध, आयतन और धातुओं में यथायोग प्रविष्ट करना चाहिए।[1]

---

१ **शास्त्रप्रमाण इत्येके [व्याख्या ५२.२७]**
**विभाषा ७४, १०: धर्मस्कन्धशास्त्र में ६००० गाथा हैं।**
**तकाकुसु का विवरण देखिए, जे० पी० टी० एस० १९०५, पृ. ११२.**

२ **८०,००० धर्मस्कन्ध अन्तर्हित हो गए हैं; केवल एक धर्मस्कन्ध अवशिष्ट है। [व्याख्या ५२.३२]**

३ **स्कन्धादीनां कथैकशः॥ [व्याख्या ५२.३४]**
**यह बुद्धघोष का व्याख्यान है, सुमंगल, १.२४**

४ **चरितप्रतिपक्षस्तु धर्मस्कन्धोऽनुवर्णितः॥ [व्याख्या ५३.५]**

१ **[तथान्येऽपि यथायोगं स्कंधायतनधातवः]।**
**प्रतिपाद्या यथोक्तेषु सुविमृश्य स्वलक्षणम्॥**
**(धातुसंग्रह में सप्तधातुकसूत्र, विभाषा ८५ पृष्ठ.४३७: विद्याधातु, शुभधातु (?), आकाशानंत्यधातु ...... निरोधधातु)**

जो अन्य स्कन्ध, आयतन और धातु अन्य सूत्रों में वर्णित हैं उनको भी, इस शास्त्र में व्यवस्थापित अपने अपने स्वभाव के अनुसार, इन्हीं पांच स्कन्ध, १२ आयतन और १८ धातुओं में प्रविष्ट करना चाहिए ।

पाँच अनास्रव स्कन्ध हैं—शील (४.१३), समाधि (६.६८), प्रज्ञा (२.२५), विमुक्ति (६.७६ सी), विमुक्तिज्ञानदर्शन : शीलस्कन्ध रूपस्कन्ध में संगृहीत है, शेष संस्कार-स्कन्ध में ( संयुत्त, १.९९, दीघ, ३. २७९, धर्मसंग्रह, २३) ।

पहले ८ कृत्स्नायतन (८. ३५) अलोभ-स्वभाव के होने से धर्मायतन में संगृहीत है । यदि सपरिवार इनका विचार करें तो इनका पंचस्कन्ध का स्वभाव है और यह मन-आयतन और धर्मा-यतन में संगृहीत होंगे ।

अभिभ्वायतन (८.३४) भी इसी प्रकार हैं ।

अन्तिम दो कृत्स्नायतन और चार आरूप्यायतन (८.२ सी) रूपवर्जित चतुःस्कन्ध-स्वभाव के हैं । यह मन-आयतन और धर्मायतन में संगृहीत हैं ।

५ विमुक्त्यायतन[2] (विमुक्ति के आयद्वार) प्रज्ञास्वभाव हैं । इसलिए यह धर्मायतन में संगृहीत हैं । यह सपरिवार शब्दायतन, मन-आयतन और धर्मायतन में संगृहीत हैं ।

दो आयतन शेष रहते हैं:[3] १. असंज्ञिसत्व, (२.४१ बी-डी) जो गन्ध-रस को वर्जित कर अन्य १० आयतनों में संगृहीत हैं ।

[४९] २. नैवसंज्ञानासंज्ञायतनोपग जो मन-आयतन और धर्मायतन में संगृहीत हैं।

इसी प्रकार बहुधातुक में परिगणित ६२ धातुओं को उनके स्वभाव का विचार करके १८ धातुओं में यथायोग संगृहीत करना चाहिए ।[1] पृथिवीधातु, अब्धातु, तेजो०, वायु०, आकाश०, विज्ञान० इन ६ धातुओं में से, जिनका उल्लेख सूत्र[2] (बहुधातुकसूत्र) में है,

अन्तिम दो का लक्षण नहीं कहा गया है । क्या यह समझना चाहिए कि आकाश ही, जो पहला असंस्कृत है, आकाशधातु है (१.५ सी)? क्या सर्व विज्ञान (१.१६) विज्ञानधातु है ?

---

२ व्याख्या [५४.१] एक सूत्र उद्धृत करती है जिसका पाठ दीघ, ३.२४१ और अंगुत्तर, ३.२१ से कम विस्तृत है ।
विमुक्तयायतनम् = विमुक्तेरायद्वारम् ।

३ रूपिणः सन्ति सत्वा असंज्ञिनोऽप्रतिसंज्ञिनः तद् यथा देवा असंज्ञिसत्वाः । इदं प्रथममायतनम् । अरूपिणः सन्ति सत्वाः सर्वश आकिंचन्यायतनम् समतिक्रम्य नैवसंज्ञानासंज्ञायतनं उपसम्पद्य विहरन्ति । तद्यथा देवा नैवसंज्ञानासंज्ञायतनोपगाः । इदं द्वितीयं आयतनम् । [व्याख्या ५५.९]

१ यह ६२ दृष्टियों के प्रतिपक्ष हैं (विभाषा, ७१, ६)—
बहुधातुक (मध्यम, ४८, १६, धर्मस्कन्ध, अध्याय २०) मज्झिम, ३.६१ (४१ धातु) के अति समीप है । असंग, सूत्रालंकार, ३.२ से तुलना कीजिए ।

छिद्रमाकाशधात्वाख्यमालोकतमसी किल।
विज्ञानधातुर्विज्ञानं सास्रवं जन्मनिश्रयः ॥२८॥

२८ ए-बी. छिद्र को आकाशधातु की आख्या देते हैं। कहते हैं कि यह आलोक और तम है।[3]

द्वार, गवाक्षादि का छिद्र वाह्य आकाशधातु है; मुख, नासिकादि का छिद्र आध्यात्मिक आकाशधातु है।[4]

वैभाषिक के अनुसार (किल) छिद्र या आकाशधातु आलोक और तम है---अर्थात् वर्ण [५०] का, रूप का (१.९ बी) एक प्रकार है क्योंकि छिद्र की उपलब्धि आलोक और तम से पृथक् नहीं है। आलोक-तम के स्वभाव का होने से छिद्र रात्रि-दिन के स्वभाव का होगा।[1] छिद्र अघ-सामन्तक रूप कहलाता है (विभाषा, ७५, ९)। कहते हैं कि नैरुक्त विधि से 'अघ' का अर्थ 'अत्यर्थ हननात्' है अर्थात् 'क्योंकि यह अत्यंत अभिघात करता है और अभिहत होता है।'[2] अतः 'अघ' का अर्थ संघातस्थ, संचित रूप है। छिद्र अघ का सामन्तक रूप है।

एक दूसरे मत के अनुसार, हमारे अनुसार, 'अघ' का अर्थ है 'प्रतिघात से रहित (अ-घ)'।

---

२ यहां वह सूत्र इष्ट है जो आश्रय के धातुओं का निर्देश करता है: षड्धातुरयम् भिक्षो पुरुषः। वसुबन्धु गर्भावक्रान्तिसूत्र के नाम से उसको उद्धृत करते हैं (१.३५)। (विनयसंयुक्तकवस्तु, § ११, नैनजियो, ११२१; रत्नकूट, अध्याय १४, नैनजियो, २३.१५।)
मज्झिम में इस सूत्र को धातुविभंगसुत्त (३.२३९) कहा है। यह पितापुत्रसमागम का एक प्रभव है जिसके उद्धरण शिक्षासमुच्चय, पृ० २४४, बोधिचर्यावतार, ९. ८८, मध्यमकावतार, पृ० २६९ में पाए जाते हैं।
पृ० २३, नोट १, पृ० ६३, नोट १ और २.२३ सी-डी की टिप्पणी में उद्धृत प्रकरणपाद देखिए। ६ धातुओं पर अंगुत्तर, १.१७६, विभंग, पृष्ठ ८२-८५, अभिधर्महृदय, ८.७ देखिए।

३ [छिद्रमाकाशधात्वाख्यम्] आलोकतमसी किल। [व्याख्या ५७.१२]

४ धर्मस्कन्ध, अध्याय २०, विभाषा, ७५, ८---विभाषा, ७५ पृष्ठ ३८८, कालम २, धर्मस्कन्ध, १० पृ० ५०३, कालम २।
विभंग, पृ० ८४ में यही लक्षण है: कतमा अज्झत्तिका आकासधातु? यं अज्झत्तं पच्चत्तं आकासो आकासगतं अघं अघगतं विवरो विवरगतं।.....कण्णच्छिद्दं नासच्छिद्दं.....

१ फू-कुआंग (को-की, १७): "यह दिखाने के लिए कि यह वर्ण-प्रकार और वस्तुसत् है कोई आकाशधातु को आलोक और तमस् बताते हैं। आचार्य का यह मत नहीं है कि आकाशधातु वस्तुसत् है। इसलिए वह 'किल' शब्द जोड़ते हैं।" वसुबन्धु और सौत्रान्तिक आकाशधातु को सप्रतिघ द्रव्य का अभाव मात्र मानते हैं। २.५५ सी-डी देखिए।
विभाषा, ७५, ९: आकाश और आकाशधातु में क्या भेद है? पहला अरूपी, अनिदर्शन, अप्रतिघ, अनास्रव, असंस्कृत है; दूसरा रूपी......

२ व्याख्या के पेट्रोग्राड संस्करण में 'आघ' पाठ है: आघं किल चितस्थं रूपं इति चितस्थं संघातस्थम्। अत्यर्थम् हन्ति हन्यते चेत्याघम्।...... (जापानी संस्करण का पाठ अघ है, ५७.१६) अत्यर्थशब्दस्य आकारादेशः कृतो हन्तेश्च घादेशः। किन्तु बर्नूफ़ की पाण्डुलिपि का पाठ अघम्.......अकारादेशः है; ३.७२ की व्याख्या में अघ = चितस्थरूप; महाव्युत्पत्ति, २४५, १६२.

छिद्र 'अघ' है क्योंकि अन्य रूप का वहां प्रतिघात नहीं होता। यह अन्य रूप का सामन्तक भी है। अतः यह अघ और सामन्तक है।

२८ सी-डी. विज्ञानधातु सास्रव विज्ञान है क्योंकि यह जन्म-निश्रय है।[3] सास्रव विज्ञान अर्थात् वह चित्त जो मार्ग में संगृहीत नहीं है। सूत्र में (पृ. ४९, नोट २) छः धातु जन्म के निश्रय, जन्म के आधारभूत, अर्थात् प्रतिसन्धि-चित्त से लेकर यावत् मरण-चित्त सर्व भव के आधारभूत बताये गये हैं।

[५१] अनास्रव धर्म जन्म, भव के प्रतिपक्ष हैं। अतः ५ विज्ञानकाय जो सदा सास्रव हैं और मनोविज्ञान जब वह सास्रव होता है, विज्ञानधातु हैं (विभाषा, ७५, ११)।

इन षड् धातुओं में से पहले चार स्प्रष्टव्यधातु में संगृहीत हैं, पाँचवाँ रूपधातु में और छठा १.१६ सी में परिगणित सप्त धातुओं में संगृहीत है।

**सनिदर्शन एकोऽत्र रूपं सप्रतिघा दश।**
**रूपिणोऽव्याकृता अष्टौ त एवारूपशब्दकाः ॥२९॥**

१८ धातुओं में कितने सनिदर्शन हैं?

२९ ए-बी. केवल एक रूपधातु सनिदर्शन है।[1]

हम उसका देश निर्दिष्ट कर सकते हैं: यहाँ है, वहाँ है। शेष धातु अनिदर्शन हैं।

कितने धातु सप्रतिघ हैं? कितने अप्रतिघ हैं?

२९ बी-सी. दस धातु जो रूपी ही हैं, सप्रतिघ हैं।[2]

दस धातु जो रूपस्कन्ध में संगृहीत हैं सप्रतिघ हैं।[3]

१. प्रतिघात या अभिघात ३ प्रकार का है: आवरणप्रतिघात, विषयप्रतिघात, आलम्बन-प्रतिघात (विभाषा, ७६, ३)।

ए. आवरण-प्रतिघात—यह काय का वह गुण है जो स्वदेश में परवस्तु की उत्पत्ति में प्रतिबन्ध है, सप्रतिघत्व। जब हाथ, हाथ या उपल को प्रतिघात करता है, जब उपल हाथ या उपल को प्रतिघात करता है तो यह अभ्याहत, प्रतिहत होता है (प्रतिहन्यते)।

[५२] बी. विषय-प्रतिघात—विषय से विषयी का आघात। प्रज्ञप्ति के अनुसार[1] "एक चक्षु है, एक चक्षुरिन्द्रिय है जो जल से प्रतिहत, अभ्याहत होता है, शुष्क वस्तु से नहीं, अर्थात् मत्स्य का चक्षु। एक चक्षु है जो शुष्क वस्तु से प्रतिहत होता है, जल से नहीं, अर्थात् (कैवर्तों को छोड़कर) प्रायः मनुष्यों का चक्षु। एक चक्षु

---

३ [विज्ञानधातुर्विज्ञानं सास्रवं] जन्मनिश्रयः। [व्याख्या ५७.२५]

१ सनिदर्शन एकोऽत्र रूपम् [व्याख्या ५८.४]

२ सप्रतिघा दश। रूपिणः—ऊपर पृष्ठ २४ और आगे देखिए।

३ धर्मधातु का निरास है: इसमें अविज्ञप्ति-रूप जो अप्रतिघ है उसका सद्भाव है।

१ कारणप्रज्ञप्तिशास्त्र का विवरण बुद्धिस्ट कास्मालॉजी पृ० ३३९ में देखिए।

है जो उभय से प्रतिहत होता है, अर्थात् शिशुमार, कर्कटक, मण्डूक, कैवर्त का चक्षु। एक चक्षु है जो दोनों में से किसी से भी नहीं प्रतिहत होता अर्थात् जो इन पूर्व प्रकारों में से नहीं है (यथा उनका चक्षु जिनकी गर्भ में नियत मृत्यु होती है)। एक चक्षु है जो रात्रि से प्रतिहत होता है अर्थात् तित्तिल, उलूकादि का चक्षु। एक चक्षु है जो दिन से प्रतिहत होता है, अर्थात् (चौर मनुष्य आदि को छोड़कर) प्रायेण मनुष्यों का चक्षु। एक चक्षु है जो रात्रि और दिन दोनों से प्रतिहत होता है, अर्थात् श्वान, शृगाल, अश्व, व्याघ्र, मार्जार आदि का चक्षु। एक चक्षु है जो रात्रि या दिन किसी से भी प्रतिहत नहीं होता, अर्थात् वह चक्षु जो पूर्ववर्णित आकार का नहीं है।"[२]

सी. आलम्बन-प्रतिघात--चित्त-चैत्त का स्वालंबन के साथ आघात (२.६२ सी)।

विषय और आलम्बन में क्या भेद है?

'विषय' से वह स्थान अभिप्रेत है जहां इन्द्रिय का दर्शन, श्रवण आदि कारित्र (=क्रिया, व्यापार) होता है। आलम्बन उसे कहते हैं जिसका चित्त-चैत्त से ग्रहण होता है। अतः चित्त-चैत्त के आलंबन और विषय दोनों होते हैं किंतु चक्षु, श्रोत्रादि के विषय ही होते हैं। विषय और आलम्बन के प्रति इन्द्रिय और चित्त की प्रवृत्ति और कारित्र को प्रतिघात क्यों कहते हैं?

क्योंकि विषय से परे इन्द्रिय की प्रवृत्ति या उसका कारित्र नहीं होता: इसलिए वह विषय से प्रतिहत होता है [लोक में कहते हैं कि सत्व कुड्य से प्रतिहत होता है क्योंकि उसके परे उसकी 'अप्रवृत्ति' होती है]। अथवा यहाँ 'प्रतिघात' का अर्थ 'निपात', 'निपतन' है: यह इन्द्रिय की स्वविषय में प्रवृत्ति (=कारित्र) है।

[५३] २. जब हम कहते हैं कि १० धातु सप्रतिघ हैं, प्रतिघात-स्वभाव हैं तो हमारा अभिप्राय आवरण-प्रतिघात से होता है। यह वह काय हैं जिनका अन्योन्य प्रतिघात हो सकता है, जो अन्योन्य सप्रतिघ हैं।

३. प्रश्न है कि क्या विषय-प्रतिघातवश सप्रतिघ धर्म आवरण-प्रतिघातवश भी सप्रतिध हैं।

यह चतुष्कोटिक प्रश्न है: १. सप्त चित्तधातु (१. १६ सी) और धर्मधातु का एक प्रदेश अर्थात् संप्रयुक्त (२. २३) केवल विषय-प्रतिघातवश सप्रतिघ हैं; २. रूपादि (१.९) पंच विषय केवल आवरण-प्रतिघातवश सप्रतिघ हैं; ३. चक्षुरादि (१. ९) पाँच इन्द्रिय इन दोनों प्रतिघातों से सप्रतिघ हैं; ४. धर्मधातु का एक प्रदेश अर्थात् विप्रयुक्त (२. ३५) सप्रतिघ नहीं है।

प्रश्न है कि क्या विषय-प्रतिघातवश सप्रतिघ धर्म आलम्बन-प्रतिघातवश भी सप्रतिघ है--प्रश्न के पश्चाद् भाग का ग्रहण कर उत्तर देते हैं (पश्चात्पादक): जो धर्म आलम्बन-प्रतिघातवश सप्रतिघ हैं वह विषय-प्रतिघातवश भी सप्रतिघ हैं। किन्तु ऐसे धर्म हैं जो आलम्बन-

---

[२] संयुत्त, ४.२०१ से तुलना कीजिए: पुथुज्जनो चक्खुस्मिं हञ्ञति मनापामनापेहि रूपेहि।

प्रतिघातवश सप्रतिघ हुए बिना ही विषय-प्रतिघातवश सप्रतिघ हैं अर्थात् ५ इन्द्रिय। [व्याख्या ५९.१७]

४. भदन्त कुमारलाभ कहते हैं : "वह सप्रतिघ कहलाता है जहां अन्य [काय] मनस् की उत्पत्ति का प्रतिघात कर सकता है। इसका विपर्यय अप्रतिघ है।"[1]

१८ धातुओं में कितने कुशल, अकुशल, अव्याकृत (४. ८, ९, ४५) हैं ?

[५४] २९ सी-डी. ८ धातु अव्याकृत हैं अर्थात् रूप और शब्दको वर्जित कर पूर्वोक्त शेष।[1]

१० सप्रतिघ (१.२९ बी-सी) धातुओं में से रूप और शब्दको वर्जित कर शेष अर्थात् ८ धातु– ५ रूपी इन्द्रिय, गन्ध, रस और स्प्रष्टव्य—अव्याकृत हैं क्योंकि उनका कुशल-अकुशल भाव नहीं कहा गया है अथवा, एक दूसरे मतके अनुसार, क्योंकि विपाक की दृष्टि से उनका व्याकरण नहीं हुआ है।

**त्रिधान्ये कामधात्वाप्ताः सर्वे रूपे चतुर्दश।**
**विना गन्धरसघ्राणजिह्वाविज्ञानधातुभिः ॥३०॥**

३० ए. अन्य त्रिविध हैं।[2] अन्य धातु यथायोग कुशल, अकुशल, अव्याकृत हैं।

१. सप्त धातु (चित्तधातवः, १.१६ सी) कुशल होते हैं जब वह तीन कुशल-मूल [४.८] से संप्रयुक्त होते हैं, अकुशल होते हैं जब वह अकुशल-मूल से संप्रयुक्त होते हैं; अन्य अव्याकृत होते हैं।[3]

२. धर्मधातु (१.१५ सी-डी) में (१) कुशलमूल, इन मूलों से संप्रयुक्त धर्म, इन मूलों से समुत्थित धर्म, प्रतिसंख्यानिरोध या निर्वाण; (२) अकुशलमूल, इन मूलों से संप्रयुक्त धर्म, इन मूलों से समुत्थित धर्म; और (३) अव्याकृत धर्म यथा आकाश, संगृहीत हैं।

३. रूपधातु और शब्दधातु जब कुशल चित्त से समुत्थित कायिक या वाचिक कर्म (४. २६, ३ डी) होते हैं तब वह कुशल हैं, जब अकुशल चित्त से होते हैं तब अकुशल हैं। अन्य अवस्थाओं में यह अव्याकृत हैं।

कामधातु, रूपधातु, आरूप्यधातु में (३.१-३) १८ धातुओं में से कितने धातु होते हैं ?

---

[1] अर्थात् जो मनस् नील विषय और चक्षु आश्रय को लेकर उत्पन्न होता है उसकी उत्पत्ति चक्षु और नील के बीच परकाय के अन्तरावरण से प्रतिहत हो सकती है : चक्षु और नील अतः सप्रतिघ हैं। इसके विपरीत न मनोधातु जिसकी वृत्ति मनो-विज्ञान के इन्द्रिय की है और न धर्मधातु जो मनोविज्ञान का स्वालम्बन है (यथा वेदना) सप्रतिघ हैं : धर्मधातु के प्रति मनोधातु से मनोविज्ञान की उत्पत्ति में कोई अन्तरावरण नहीं कर सकता। यत्रोत्पित्सोर्मनसः प्रतिघातः शक्यते (परैः) कर्तुम्। तदेव सप्रतिघं तद्विपर्ययादप्रतिघमिष्टम्।

[1] अव्याकृता अष्टौ ते रूपशब्दवर्जिताः [व्याख्या ६०.५]।—२.९ ए देखिए; विभाषा, ५१, ३; १४४, ४.

[2] त्रिधाऽन्ये [व्याख्या ६०.१०]

[3] महीशासकों का मत है कि पहले चार विज्ञान सदा अव्याकृत होते हैं और कायविज्ञान और मनोविज्ञान तीन प्रकार के होते हैं। सिद्धिमें इस प्रश्न पर विचार किया गया है।

३० ए-बी. कामधातु में सब होते हैं ।[४]

[५५] सब धातु कामधातु से संप्रयुक्त हैं, प्रतिबद्ध हैं, कामधातु से विसंयुक्त नहीं हैं (विभाषा, १४५, १४) ।

३० बी-डी. रूपधातु में गन्ध, रस, घ्राणविज्ञान, जिह्वाविज्ञान को वर्जित कर चतुर्दश ।[१]

१. वहाँ गन्ध और रस का अभाव है क्योंकि यह कवलीकार आहार है (३.३९) और रूपधातु में कोई ऐसा आश्रय उपपन्न नहीं होता जो इस आहार से विरक्त न हो । गन्ध और रस के अभाव के कारण घ्राणविज्ञान और जिह्वाविज्ञान का भी अभाव होता है ।

आक्षेप––स्प्रष्टव्यधातु का भी वहां अभाव होगा क्योंकि यह भी कवलीकार आहार है । नहीं, क्योंकि स्प्रष्टव्यधातु एकान्ततः आहार नहीं है । रूपधातु में वह स्प्रष्टव्यधातु होता है जो आहार नहीं है ।

आक्षेप––गन्ध और रस में भी यह प्रसंग होता है ।

नहीं । स्प्रष्टव्य की परिविष्टि आहार के अतिरिक्त भी है । इसका इन्द्रियाश्रयभाव है, इसका आधारभाव है, इसका प्रावरणभाव है । आहाराभ्यवहार से अन्यत्र गन्ध और रस का कोई परिभोग नहीं है । जो सत्व आहार से विरक्त हैं उनके लिए इनका कोई प्रयोजन नहीं है ।

२. श्रीलाभ [व्या० ६१.४, श्रीलात] एक भिन्न अर्थ देते हैं । जब कामधातु का सत्व समापत्ति-समापन्न, ध्यान-समापन्न होता है तब वह रूप देखता है, शब्द श्रवण करता है, उसका काय ध्यानोत्पादित (८.९ बी) प्रश्रब्धि (कायकर्मण्यता) से सहगत स्प्रष्टव्यविशेष से अनुगृहीत होता है। इससे हम यह परिणाम निकाल सकते हैं कि रूपधातु के देवनिकायों में, जिनको उपपत्तिध्यान (३.२, ८.१) कहते हैं, रूप, शब्द, स्प्रष्टव्य होते हैं किंतु गन्ध और रस नहीं होते ।

[५६] ३. हमारा निश्चय है कि यदि रूपधातु में गन्ध और रस का अभाव है तो घ्राणेन्द्रिय और जिह्वेन्द्रिय का भी वहाँ अभाव होना चाहिए क्योंकि यह निष्प्रयोजन हैं। अतः रूप-धातु में केवल १२ धातु होते हैं।

१. वैभाषिकदेशीय का प्रतिविधान––रूपधातु में घ्राणेन्द्रिय और जिह्वेन्द्रिय का प्रयोजन है क्योंकि इनके बिना शरीर-शोभा और वाग्विज्ञप्ति न होगी ।

---

[४] **कामधात्वाप्ताः सर्वे [व्याख्या ६०.२६]**
**जो धर्म किसी धातु में परियापन्न नहीं हैं, जो अधातुपतित हैं (अधात्वाप्त-अपरियापन्न) वह असंस्कृत और अनास्रव हैं ।**

[१] **रूपे चतुर्दश । विना गन्धरसघ्राणजिह्वाविज्ञानधातुभिः ॥ [व्याख्या ६०.२९] । २.१२ में इस प्रश्न का पुनः विचार किया गया है ।**
**कथावत्थु, ८.७ से तुलना कीजिए ।**

यदि प्रयोजन है तो घ्राणेन्द्रिय-रूपप्रसाद के अधिष्ठान नासिका से आश्रय-शोभा होती है, इन्द्रिय-रूपप्रसाद (१.४४) से नहीं; जिह्वेन्द्रिय के अधिष्ठान जिह्वा से, न कि जिह्वेन्द्रिय-रूपप्रसाद से, वचन होता है।

वैभाषिकदेशीय—नासिका तथा जिह्वा जो इन्द्रिय के अधिष्ठान हैं अनिन्द्रिय नहीं हो सकते। कोई नासिका या जिह्वा नहीं है जिसमें घ्राणेन्द्रिय या जिह्वेन्द्रिय के रूप-प्रसाद का अभाव हो। यथा पुरुषेन्द्रिय का अधिष्ठान सदा पुरुषेन्द्रिय नामक (१.४४ ए, २.२सी-डी) कायेन्द्रिय-विशेष से समन्वागत होता है।

पुरुषेन्द्रिय के अभाव में पुरुषेन्द्रिय के अधिष्ठान का न होना युक्त है क्योंकि इस इन्द्रिय के बिना वह निष्प्रयोजन है। किन्तु घ्राण और जिह्वेन्द्रिय से पृथक् भी इनके अधिष्ठान का प्रयोजन है। अतः इन्द्रिय के बिना भी घ्राण और जिह्वेन्द्रिय के अधिष्ठान का रूपधातु में संभव है। अतः रूपधातु में १२ ही धातु होते हैं।

२. वैभाषिक का उत्तर—बिना प्रयोजन के भी इन्द्रिय की उत्पत्ति हो सकती है, यथा गर्भ में जिनकी नियत मृत्यु होती है उनकी इन्द्रियों की अभिनिर्वृत्ति निष्प्रयोजन होती है। हो सकता है कि एक इन्द्रिय की अभिनिर्वृत्ति निष्प्रयोजन हो किन्तु यह निर्हेतुक नहीं होती। इन्द्रिय-विशेष के प्रति तृष्णा से आहृत कर्म-विशेष के अतिरिक्त इन्द्रियाभिनिर्वृत्ति का अन्य हेतु क्या हो सकता है? किन्तु जो विषय से, गन्ध से, वितृष्ण है वह नियतरूपेण इन्द्रिय से, घ्राणेन्द्रिय से भी वितृष्ण होता है। अतः कोई हेतु नहीं है जिससे रूपधातु में उपपन्न सत्वों में घ्राणेन्द्रिय और जिह्वेन्द्रिय का प्रादुर्भाव हो क्योंकि यह सत्व गन्ध और रस से वितृष्ण हैं। अथवा आप बतावें कि रूपधातु में पुरुषेन्द्रिय की अभिनिर्वृत्ति क्यों नहीं होती?

[५७] वैभाषिक का उत्तर—पुरुषेन्द्रिय अशोभा का हेतु है (२.१२)।

उनमें क्या यह शोभा नहीं देता जो महापुरुषों के लक्षण से समन्वागत होते हैं?[1] पुनः प्रयोजनवश पुरुषेन्द्रिय की उत्पत्ति नहीं होती किन्तु स्वकारण से होती है। कारण के होने पर यह अवश्य उत्पन्न होगी, चाहे यह अशोभाकर क्यों न हो।

३. सूत्र-प्रमाण। वैभाषिक के अनुसार यह पक्ष कि रूपधातु में घ्राणेन्द्रिय—जिह्वेन्द्रिय अविद्यमान हैं सूत्र के विरुद्ध हैं। सूत्र[2] की शिक्षा है कि रूपावचर सत्त्व अहीनेन्द्रिय, अविकलेन्द्रिय होते हैं। वह कभी काण या कुण्ठ नहीं होते (३.९८ ए)।

यह सूत्र कहता है कि रूपावचर सत्त्व की वह इन्द्रियाँ अविकल होती हैं जो रूपधातु में होती हैं। यदि वैभाषिक सूत्रार्थ का इस प्रकार परिग्रह नहीं करते तो इन सत्त्वों का पुरुषेन्द्रिय-संभव भी मानना होगा।

४. वैभाषिक का उत्तर और निष्कर्ष।

---

[1] **कोशगतवस्तिगुह्य [व्याख्या ६२.१९]**

[2] **दीघ, १. ३४, १८६ से तुलना कीजिए।**

यद्यपि गन्ध-रस का वहाँ अभाव है तथापि रूपधातु में घ्राणेन्द्रिय-जिह्वेन्द्रिय होते हैं।

वास्तव में जो सत्त्व गन्ध से वितृष्ण है वह स्वसन्तान (आत्मभाव) में संगृहीत घ्राणेन्द्रिय के प्रति तृष्णा रखता है। षडायतन (६ ज्ञानेन्द्रिय) के प्रति तृष्णा का समुदाचार इन षडिन्द्रियों के आलम्बनवश नहीं, किन्तु आत्मभावमुखेन, होता है। अतः यद्यपि सत्त्व गन्ध-रस से वितृष्ण हो तथापि घ्राणेन्द्रिय-जिह्वेन्द्रिय की उत्पत्ति सहेतुक है।

पुरुषेन्द्रिय के लिए ऐसा नहीं है। इस इन्द्रिय के प्रति तृष्णा मैथुन-स्पर्श-मुखेन प्रवृत्त होती है। किन्तु रूपधातु में पुनरुपपन्न सत्त्व मैथुन-स्पर्श से वीतराग हैं। अतः पुरुषेन्द्रिय के प्रति तृष्णा से आहृत कर्म उन्होंने नहीं किया है। अतः रूपधातु में पुरुषेन्द्रिय नहीं होती।[3]

**आरूप्याप्ता मनोधर्ममनोविज्ञानधातवः।**
**सास्रवानास्रवा एते त्रयः शेषास्तु सास्रवाः॥३१॥**

[५८] ३१ ए-बी. आरूप्यधातु में मनोधातु, धर्मधातु, मनोविज्ञानधातु होते हैं।[1] आरूप्य में रूप से वीतराग सत्त्वों की उपपत्ति होती है। अतः आरूप्य में ५ इन्द्रिय और उनके आलम्बन, यह १० रूपी धातु और ५ विज्ञानधातु, जिनके आश्रय और आलम्बन रूपी धातु हैं, नहीं होते (८.३ सी)।

कितने धातु सास्रव हैं? कितने अनास्रव हैं?

३१ सी-डी. यह तीन धातु सास्रव या अनास्रव हैं।[2]

जब यह मार्गसत्य या असंस्कृत में संगृहीत हैं तब यह अनास्रव हैं; विपरीत अवस्था में सास्रव हैं (१.४)।

३१ डी. शेष सास्रव हैं।[3]

---

[3] विभाषा, १४५, १२: क्या रूप धातु में पुरुषेन्द्रिय और स्त्रीन्द्रिय होते हैं? वहां न पुरुषेन्द्रिय, न स्त्रीन्द्रिय होते हैं। प्रथम मत---क्योंकि इन इन्द्रियों के प्रहाण की इच्छा है इसलिए ध्यानों की भावना होती ह और योगी रूपधातु में पुनरुपपन्न होता है। यदि रूपावचर सत्त्व इन इन्द्रियों से समन्वागत होते तो सत्त्व इस धातु में उपपन्न होना न चाहता। दूसरा मत---इन इन्द्रियों की उत्पत्ति औदारिक आहार (३.३९) से होती है। सूत्र (३.९८ सी) वास्तव में कहता है कि प्रथमकाल्पिक मनुष्य इन इन्द्रियों से समन्वागत नहीं होते और सब की एक ही सी आकृति होती है। पश्चात् जब वह भूमि के रस का पान करते हैं तो दो इन्द्रियां उत्पन्न होती हैं, पुरुष-स्त्री के विशेष का प्रादुर्भाव होता है। औदारिक आहार के अभाव में इन दो इन्द्रियों का अभाव होता है। तृतीय मत---कामधातु में इन दो इन्द्रियों का प्रयोजन है; रूपधातु में नहीं है। अतः रूपधातु में इनका अभाव है......।
कामावचर देवों के विषय में ३.७० देखिए।

[1] आरूप्याप्ता मनोधर्ममनोविज्ञानधातवः। [व्याख्या ६३.११]

[2] सास्रवानास्रवा एते त्रयः। [व्याख्या ६३.२१]

[3] शेषास्तु सास्रवाः॥ [व्याख्या ६३.२३]

सवितर्कविचारा हि पंचविज्ञानधातवः।
अन्त्यास्त्रयस् त्रिप्रकाराः शेषा उभयवर्जिताः ॥३२॥

अन्य धातु जिनकी संख्या १५ है केवल सास्रव हैं।[४]

[५९] कितने धातु सवितर्क-विचार हैं, कितने अवितर्क-सविचार हैं, कितने अवितर्क-अविचार हैं?[१]

३२ ए-बी. पाँच विज्ञानधातु सदा सवितर्क-सविचार होते हैं।[२] यह सदा सवितर्क-सविचार होते हैं क्योंकि बहिर्मुखवृत्ति होने से यह औदारिक हैं। 'हि' शब्द जिसका अर्थ 'सदा' है अवधारणार्थ है: यह धर्म एकान्ततः सवितर्क-सविचार हैं।

३२ सी. अन्तिम तीन धातु तीन प्रकार के हैं।[३]

यह धातु मनोधातु, धर्मधातु, मनोविज्ञानधातु हैं।

१. कामधातु और प्रथम ध्यान में (८.७, ११) (१) मनोधातु, (२) मनोविज्ञानधातु और (३) वितर्क-विचार से अन्यत्र संप्रयुक्त धर्मधातु (धर्मधातु का वह प्रदेश जो चित्त से संप्रयुक्त है २.२३) सवितर्क-सविचार हैं।

२. ध्यानान्तर में (८.२२ डी) यह अवितर्क हैं, विचार के संप्रयोग से विचारमात्र हैं।

३. द्वितीय भूमि से लेकर यावद् भवाग्र (नैवसंज्ञानासंज्ञायतन) यह अवितर्क-अविचार (८.२३ सी-डी) हैं।

४. सर्व असंप्रयुक्त धर्मधातु (धर्मधातु का वह प्रदेश जो चित्त से विप्रयुक्त (२.३५) है) और ध्यानान्तर का विचार अवितर्क-अविचार हैं।

---

[४] महासांघिक और सौत्रान्तिकों का मत है कि बुद्धकाय अनास्रव है (४.४ ए-बी में अविज्ञप्ति का विवाद देखिए) [कथावत्थु ४.३, १४.४ से तुलना कीजिए]। विभाषा ४४, पृ. २२९, कालम १; ७६ पृ. ३९१; १८३ पृ. ८७१, कालम. ३; (सिद्धि, ७७० देखिए): कुछ वादियों का मत है कि बुद्ध-काय अनास्रव है। यह महासांघिक हैं। इनका कहना है कि "आगम कहता है कि तथागत लोक से अवलिप्त नहीं होते। वह लौकिक नहीं हैं, वह संक्लिष्ट नहीं हैं। अतः हम जानते हैं कि बुद्ध-काय अनास्रव है।' इस मत का प्रतिषेध करने के लिए यह दिखाते हैं कि बुद्ध-काय सास्रव है। यह कहना कि यह अनास्रव है सूत्र का विरोध करना है।

बुद्धकाय अनास्रव नहीं है क्योंकि यह परक्लेश का प्रत्यय हो सकता है। विभाषा, १७३, ९: बुद्धकाय अविद्या और तृष्णा का फल है। अतः यह अनास्रव नहीं है। सूत्र कहता है कि साकल्येन १० आयतन (चक्षुरिन्द्रिय......रूप......) और दो आयतन के प्रदेश (मन आयतन, धर्म) सास्रव हैं......। यदि बुद्धकाय अनास्रव होता तो स्त्रियों को उनके लिए कामराग न होता; दूसरों में वह राग, द्वेष, विक्षेप, मद......का उत्पाद न करते।

व्याख्या पृ० १४ से तुलना कीजिए; ऊपर पृष्ठ ६ देखिए।

[१] विभंग, ९७, ४३५ में यही प्रश्न है—वितर्क और विचार का लक्षण २.२८, ३३ में है।

[२] सवितर्कविचारा हि पंचविज्ञानधातवः। [व्या० ६३.२८]

[३] अन्त्यास्त्रयस्त्रिप्रकाराः [व्या० ६३.३०]

४

[६०] ५. वितर्क सदा विचार-सहगत होता है। यह सदा अवितर्क है क्योंकि दो वितर्कों का सहभाव असंभव है।

किन्तु कामधातु और प्रथम ध्यान का विचार तीन प्रकारों में से किसी में भी अन्तर्भूत नहीं होता। वास्तव में यह सदा वितर्क से संप्रयुक्त होता है और यह कभी विचार-सहगत नहीं होता अर्थात् अविचार-वितर्क मात्र होता है क्योंकि दो विचारों का सहभाव संभव नहीं है।

अतः हम कहेंगे कि जो भूमियाँ सवितर्क-सविचार (८.७) हैं उनमें चार प्रकार हैं: १. वितर्क-विचारवर्जित चित्त-संप्रयुक्त धर्म सवितर्क-सविचार हैं। २. वितर्क अवितर्क-सविचार है। ३. चित्त-विप्रयुक्त धर्म अवितर्क-अविचार हैं। ४. विचार अविचार-सवितर्क है।

३२ डी. अन्य धातु उभयवर्जित हैं।[1]

अन्य धातु १० रूपी धातु हैं। चित्त से संप्रयुक्त न होने के कारण वह अवितर्क-अविचार हैं।

**निरूपणानुस्मरणविकल्पेनाविकल्पकाः।**
**तौ प्रज्ञा मानसी व्यग्रा स्मृतिः सर्वैव मानसी ॥३३॥**

किन्तु पाँच विज्ञानकाय सदा सवितर्क-सविचार होते हैं। वह अविकल्पक कैसे कहे जाते हैं?

३३ ए-बी. वह अविकल्पक हैं क्योंकि वह निरूपणाविकल्प और अनुस्मरण-विकल्प से रहित हैं।[2] (कोश ३.१०९, ४.३९; सिद्धि, २८२, ३८९-३९१)

वैभाषिक[3] के अनुसार विकल्प त्रिविध है: स्वभावविकल्प, निरूपणाविकल्प, अनुस्मरण-विकल्प।[4]

[६१] पाँच विज्ञानकायों में प्रथम प्रकार का विकल्प होता है किन्तु अन्य दो विकल्प नहीं होते।[1] इसीलिए कहते हैं कि वह अविकल्पक हैं यथा एक पैर के घोड़े को अपादक

---

[1] शेषा उभयवर्जिताः॥ [व्या० ६४.१८]

[2] [निरूपणानुस्मरणविकल्पादविकल्पकाः] इस वचन के अनुसार इन्हें अविकल्पक कहते हैं: चक्षुर्विज्ञान-समंगी नीलं विजानाति नो तु नीलमिति [व्या० ६४. २२] (ऊपर पृ० २८, टिप्पणी १ देखिए)

[3] किल—यह वैभाषिक मत है। सूत्र से इसका समर्थन नहीं होता। वसुबन्धु के मत का व्याख्यान आगे २.३३ में है। वसुबन्धु और सौत्रान्तिक के लिए वितर्क और विचार चित्त, मनोविज्ञान हैं।

[4] विभाषा, ४२, १४: स्वभावविकल्प वितर्क-विचार है; अनुस्मरणविकल्प मनोविज्ञान-संप्रयुक्त स्मृति है। निरूपणाविकल्प मनोविज्ञानविषयक असमाहित प्रज्ञा है। कामधातु में ५ विज्ञानकायों का केवल प्रथम प्रकार का विकल्प है। इनमें स्मृति होती है किन्तु अनुस्मरणविकल्प नहीं होता, क्योंकि वह प्रत्यभिज्ञान में समर्थ नहीं हैं। इनमें प्रज्ञा होती है किन्तु निरूपणा-विकल्प नहीं होता क्योंकि यह निरूपणा में समर्थ नहीं हैं।
न्यायानुसार: स्वभावविकल्प का स्वभाव वितर्क है।

[1] पांच विज्ञानकायों से प्रज्ञा और स्मृति संप्रयुक्त हैं किन्तु उनका परिभोग वहां न्यून है (संघभद्र)।

कहते हैं। 'स्वभावविकल्प' वह वितर्क है जिसका विचार हम चैत्तों के कोश-स्थान (२.३३) में करेंगे। अन्य दो विकल्प :

३३ सी-डी. व्यग्रा मानसी प्रज्ञा, सर्व मानसी स्मृति।[२]

मानसी प्रज्ञा अर्थात् मनोविज्ञान-संप्रयुक्त धर्मों का प्रविचय; व्यग्रा अर्थात् असमाहित, समापन्नावस्था में नहीं (८.१)। यह अभिनिरूपणाविकल्प है। सर्व मानसी स्मृति, समाहित अथवा असमाहित, अनुस्मरणविकल्प है।[३]

**सप्त सालम्बनाश्चित्तधातवोऽर्धं च धर्मतः।**
**नवानुपात्तास्ते चाष्टौ शब्दश्चान्ये नव द्विधा॥३४॥**

[६२] कितने धातु 'सालम्बन' हैं अर्थात् विज्ञान के विषयी हैं?

३४ ए-बी. सात 'सालम्बन' हैं। यह चित्त-धातु हैं।[१]

चक्षुर्विज्ञानधातु, श्रोत्र०, घ्राण०, जिह्वा० काय०, मनोविज्ञानधातु, मनोधातु केवल 'सालम्बन' हैं क्योंकि वह सदा स्वविषय का ग्रहण करते हैं।

३४ बी. और धर्मधातु का एक प्रदेश भी।[२]

अर्थात् चित्तसंप्रयुक्त धर्मधातु (२.२३)। अन्य धातु अर्थात् १० रूपी धातु और धर्म-धातु का वह प्रदेश जो चित्त-विप्रयुक्त है (२.३५) 'अनालम्बन' है।

कितने धातु 'अनुपात्त' हैं? कितने 'उपात्त' हैं?

३४ सी-डी. ९ अनुपात्त हैं अर्थात् यह ८ धातु और शब्द।[३]

---

[२] तौ व्यग्रा मानसी प्रज्ञा सर्वैव मानसी स्मृतिः॥

[३] मानसी प्रज्ञा अर्थात् 'मनसि भवा'—यह श्रुत-चिन्तामयी है या उपपत्तिप्रातिलंभिका है। 'व्यग्रा' अर्थात् असमाहित, जिसके विविध आलम्बन (अग्र) हों अथवा जो विगतप्रधाना है क्योंकि वह बार बार आलम्बनान्तर का आश्रय लेती है।
इस प्रज्ञा को अभिनिरूपणाविकल्प का नाम क्यों देते हैं? क्योंकि अमुक अमुक आलम्बन में नाम की अपेक्षा कर (नामापेक्षया) इसकी अभिप्रवृत्ति होती है और यह अभिनिरूपण करता है: "यह रूप, वेदना, अनित्य, दुःख है" इत्यादि। इसके विपरीत समाहित प्रज्ञा जो भावनामयी है नाम की अपेक्षा न कर आलम्बन में प्रवृत्त होती है। अतः वह अभिनिरूपणा-विकल्प नहीं है। सर्व मानसी स्मृति अर्थात् समाहित और असमाहित। क्योंकि विभाषा के अनुसार मानसी स्मृति का आलम्बन अनुभूतार्थमात्र होता है और यह नाम की अपेक्षा नहीं करती। यह इस लक्षण के अनुसार है: "स्मृति क्या है? चित्त का अभिलाप (चेतसोऽभि-लापः)"। पांच विज्ञानकाय से संप्रयुक्त स्मृति की प्रवृत्ति अनुभूतार्थ का अभिलाप नहीं है। अतः यह अनुस्मरण-विकल्प नहीं है। [व्याख्या ६५.९]। २.२४ देखिए।

[१] सप्त सालम्बनाश्चित्तधातवः [व्या० ६५.१२]
आलम्बन के अर्थ पर १.२९ बी देखिए। विभंग, पृ.९५ से तुलना कीजिए।

[२] अर्धं च धर्मतः [व्या० ६५.१४]

[३] नवानुपात्तास्ते चाष्टौ शब्दश्च [व्या० ६५.२०, २७]

सात चित्तधातु (१.१६ सी), धर्मधातु (१.१५ सी) और शब्दधातु अनुपात्त हैं।

३४ डी. अन्य ९ दो प्रकार के हैं।

वह कदाचित् उपात्त हैं, कदाचित् अनुपात्त हैं।

१. चक्षुर्धातु आदि पाँच वर्तमान ज्ञानेन्द्रिय उपात्त हैं। अनागत और अतीत उपात्त नहीं हैं।

[६३] चार आलम्बन--रूप, गन्ध, रस, स्प्रष्टव्य--जब वर्तमान होते हैं, जब इन्द्रियाभिन्न (इन्द्रियाविनिर्भाग) होते हैं तब वह उपात्त हैं। अन्य सर्व रूप, अन्य सर्व गन्ध, अन्य सर्व रस, अन्य सर्व स्प्रष्टव्य उपात्त नहीं हैं: यथा मूल को वर्जित कर जो काय या कायेन्द्रिय से प्रतिबद्ध है, केश, रोम, नख और दन्त के रूप, वर्ण और संस्थान; पुरीष, मूत्र, लाला, कफ, रुधिरादि के वर्ण-संस्थान; पृथिवी, जल, अग्नि आदि के वर्ण-संस्थान।

२. 'उपात्त' शब्द का क्या अर्थ है?--जिसे चित्त-चैत्त अधिष्ठानभाव से उपगृहीत और स्वीकृत करते हैं वह 'उपात्त' कहलाता है। उपात्त रूप अर्थात् पाँच ज्ञानेन्द्रिय रूप। इस प्रकार वह रूप जो इन्द्रियाविनिर्भागी है चित्त से 'उपात्त' है, 'स्वीकृत' है: अनुग्रह-उपघात की अवस्था में चित्त और इस रूप के बीच जो अन्योन्य अनुविधान होता है उसका यह फल है। जिस रूप को अभिधर्म 'उपात्त' कहता है उसे लोक में सचेतन, सजीव[1] कहते हैं।

**स्प्रष्टव्यं द्विविधं शेषा रूपिणो नव भौतिकाः।**
**धर्मधात्वेकदेशश्च संचिता दश रूपिणः ॥३५॥**

कितने धातु महाभूत हैं? कितने उपादायरूप, भौतिकरूप हैं?[2]

---

[४] अन्ये नव द्विधा॥ [व्या० ६५.२९]

[1] अभिधम्म (विभंग, पृ० ९६, धम्मसंगणि, ६५३, १२११, १५३४) में 'उपादिन्न' का यही अर्थ है। अभिधम्म के वर्तमान टीकाकार 'उपादिन्न' का अनुवाद इश्यू आफ ग्रैस्पिंग करते हैं। वह यह नहीं देखते कि उपादा=उपादायरूप, भौतिक है और इस प्रकार वह बड़ी गड़बड़ी करते हैं।
इसके अतिरिक्त विभंग में धातुओं का वर्गीकरण अभिधर्म के समान नहीं है। (सुत्तविभंग, पृ० ११३ देखिए; महाव्युत्पत्ति, १०१, ५६; दिव्यावदान, पृ० ५४; बोधिचर्यावतार, ८.९७, १०१)।
संस्कृत ग्रंथों में भी कुछ अनिश्चितता है। यथा मज्झिम ३.२४० में जो पितापुत्रसमागम (ऊपर पृ० ४९ टिप्पणी २ देखिए) में उद्धृत है, केश......पुरीष को अज्झत्तं पच्चत्तं कक्खलमुपादिन्नं कहा है। किन्तु केश 'उपादिन्न' नहीं हैं।
आध्यात्मिक रूप (मज्झिम, ३.९० देखिए) को उपात्त रूप से मिला दिया है। उपात्त रूप और मनस् को आश्रय का नाम देते हैं (२.५ देखिए)। यह तीर्थिकों का सूक्ष्म (लिंग) शरीर है।

[2] भूत, महाभूत; उपादायरूप, भौतिक; १.१२, २३-२४; २.१२, ५० ए, ६५ देखिए। भौतिक=भूते भव=भूतों से उत्पन्न

[६४] ३५ ए-सी. स्प्रष्टव्य द्विविध हैं; शेष ९ रूपी धातु केवल भौतिक रूप हैं और इसी प्रकार धर्मधातु का एक देश है जो रूपी है।[1]

(१) चार महाभूत, खर, स्नेह, उष्णता, ईरण (१.१२), (२) सप्तविध भौतिक रूप, श्लक्ष्णत्व, कर्कश आदि (१.१० डी) स्प्रष्टव्य हैं।

शेष रूपी धातु, ५ इन्द्रिय, प्रथम चार इन्द्रियों के आलम्बन, केवल भौतिक रूप हैं। इसी प्रकार अविज्ञप्ति (१.११) जो धर्मधातु में (१.१५ सी-डी) संगृहीत है।

चित्तधातु (१.१६ सी) न भूत हैं, न भौतिक रूप। इसी प्रकार अविज्ञप्ति को वर्जित कर धर्मधातु।

१. भदन्त बुद्धदेव के अनुसार दस आयतन अर्थात् ५ ज्ञानेन्द्रिय और उनके आलम्बन केवल भूत हैं।[2]

यह मत अयुक्त है। सूत्र अवधारित करता है कि चार महाभूत हैं और इनका लक्षण खक्खट, स्नेहादि (१.१२ डी) अवधारित करता है। किन्तु खक्खट, स्नेहादि स्प्रष्टव्य हैं

[६५] और केवल स्प्रष्टव्य हैं: खक्खटत्व (काठिन्य) चक्षुरिन्द्रिय से गृहीत नहीं होता। इसके अतिरिक्त प्रत्येक इन्द्रिय अपने अनुकूल भौतिक रूप को प्राप्त होती है: वर्ण कायेन्द्रिय से गृहीत नहीं होता।[1] पुनः इस सूत्र-वचन से यह सिद्ध होता है कि स्प्रष्टव्य भूत और उपादायरूप है और शेष ९ रूपी आयतन केवल उपादायरूप हैं: "हे भिक्षु! चक्षु आध्यात्मिक आयतन (१.३९), रूपप्रसाद, उपादायरूप, रूपी, अनिदर्शन, सप्रतिघ है" और इसी प्रकार अन्य चार रूपीन्द्रिय हैं जो इन्हीं शब्दों में वर्णित हैं। प्रथम चार आलम्बनों के बारे में सूत्र कहता है: "रूप बाह्य आयतन, उपादायरूप, रूपी, सनिदर्शन, सप्रतिघ है। इसी प्रकार

---

[1] **स्प्रष्टव्यं द्विविधं शेषा रूपिणो नव भौतिकाः।**
**धर्मधात्वेकदेशश्च [व्याख्या ६६.५]**
**विभंग, पृ० ९६ से तुलना कीजिए।**

[2] **विभाषा, १२७, १—इस निकाय में दो आचार्य हैं: बुद्धदेव और धर्मत्रात। बुद्धदेव कहते हैं कि "रूप केवल महाभूत है; चैत्त केवल चित्त हैं।" वह कहते हैं कि उपादायरूप महाभूत-विशेष है और चैत्त चित्त-विशेष हैं......।" (कथावत्थु, ७.३ से तुलना कीजिए)— विभाषा, ७४, ८—सूत्र कहता है: "रूप चार महाभूत और भौतिक हैं।" सूत्र किस मत का प्रतिषेध करता है? यह बुद्धदेव के मत का प्रतिषेध करता है। बुद्ध देखते हैं कि अनागत में एक आचार्य बुद्धदेव होंगे जो कहेंगे कि "महाभूतों के व्यतिरिक्त कोई पृथक् भौतिक रूप नहीं है।" इस मत का प्रतिषेध करने के लिए बुद्ध कहते हैं कि "रूप चार महाभूत है...।"— १४२.७—बुद्धदेव कहते हैं "सर्व संस्कृत महाभूत या चित्त हैं; महाभूतों के अतिरिक्त कोई उपादायरूप नहीं है; चित्त से अन्य चैत्त नहीं हैं। चित्त-चैत्त पर नीचे पृ० ६६ और २.२३ सी देखिए। कदाचित् आचार्य बुद्धदेव का ही नाम मथुरा के सिंह लेख में आया है।**

[1] **अतः (१) खरादि न होने से इन्द्रिय भूत नहीं हैं; (२) स्प्रष्टव्यधातु में भूत हैं क्योंकि स्प्रष्टव्य से खक्खट का ग्रहण होता है; (३) अन्य इन्द्रियों से गृहीत भौतिक रूप स्प्रष्टव्य से गृहीत नहीं होता।**

गन्ध और रस के लिए है। किन्तु स्प्रष्टव्य के लिए सूत्र कहता है "स्प्रष्टव्य बाह्य आयतन, चार महाभूत, चार महाभूतों के उपादायरूप.............।"[२]

२. यह कहा जा सकता है कि ५ इन्द्रिय भूत हैं क्योंकि सूत्र- (संयुक्त, ११, १) वचन है कि "चक्षु में, मांसपिंड में, यत्किंचित् खक्खट, खरगत है.............।" (विभाषा, १२७, पृ. ६६१)

उत्तर। यहाँ सूत्र को इन्द्रिय इष्ट नहीं है किन्तु चक्षुरिन्द्रिय से अविनिर्भागवर्ती मांसपिंड का उपदेश है।

[६६] हो सकता है। किन्तु गर्भावक्रान्तिसूत्र (पृ.४९ नोट २) के अनुसार "पुरुष षड्धातु का है: "पृथिवी धातु, अब्धातु, तेजोधातु, वायुधातु, आकाशधातु और विज्ञानधातु। अतः गर्भावस्था में काय भूत है, भौतिक रूप नहीं है।

नहीं, क्योंकि 'पुरुष षड्धातु का है' इस प्रथम वाक्य में सूत्र पुरुष के मूलसत्त्व-द्रव्य[१] का संदर्शन कराना चाहता है, वह विस्तृत लक्षण नहीं दे रहा है। वास्तव में इसी सूत्र में पश्चात् उक्त है कि पुरुष स्पर्श (२.२४) नामक चैतसिक धर्म का षडाश्रय (स्पर्शायतन) अर्थात् षडिन्द्रिय है।[२] पुनः 'पुरुष षड्धातु का है' इस लक्षण का अक्षरार्थ लेने से चैत्तों के (२.२४, ३४) अभाव का प्रसंग होगा क्योंकि चैत्त विज्ञान-धातु में, जो चित्त है, संगृहीत नहीं हैं। क्या यह कहेंगे कि चैत्त चित्त हैं और इसलिए विज्ञान-धातु में संगृहीत हैं? यह युक्त नहीं होगा क्योंकि सूत्र-वचन है कि "वेदना और संज्ञा चैत्त धर्म हैं" अर्थात् चैतसिक धर्म हैं, चित्त-निश्रित धर्म हैं और सूत्र 'सराग चित्त' का भी उल्लेख करता है। अतः राग जो चैत्त है चित्त नहीं है (७.११ डी)।

अतः यह सिद्ध है कि हमारे दिए हुए लक्षण (१.३५ ए-सी) यथार्थ हैं।[३]

---

[२] चक्षुर्भिक्षो आध्यात्मिकं आयतनं चत्वारि महाभूतान्युपादाय रूपप्रसादो रूपी अनिदर्शनं सप्रतिघम्।......मनो भिक्षो आध्यात्मिकं आयतनं अरूप्यनिदर्शनम् अप्रतिघम्। रूपाणि भिक्षो बाह्यमायतनं चत्वारि महाभूतान्युपादाय रूपि सनिदर्शनम् सप्रतिघम्।...... स्प्रष्टव्यानि भिक्षो बाह्यमायतनं चत्वारि महाभूतानि चत्वारि च महाभूतान्युपादाय रूपि अनिदर्शनम् सप्रतिघम्। धर्मा भिक्षो बाह्यमायतनम् एकादशभिरायतनैरसंगृहीतमरूपि अनिदर्शनमप्रतिघम्। [व्या० ६६.२५]

[१] २.५ देखिए। प्रथम चार धातु (पृथिवी......वायु) 'मौल सत्त्वद्रव्य' हैं क्योंकि इन्द्रियों की उत्पत्ति इन धातुओं से होती है; विज्ञानधातु या मनोधातु 'मूल' है क्योंकि इससे मनः स्पर्शायतन की उत्पत्ति होती है। अथवा प्रथम चार धातु मूल हैं क्योंकि उनसे भौतिक रूप की उत्पत्ति होती है। विज्ञानधातु मूल है क्योंकि इससे चैत्त (चैतसिक) उत्पन्न होते हैं।

[२] अतः प्रथम पांच 'स्पर्शायतन', ५ ज्ञानेन्द्रिय 'भौतिक रूप' हैं: अन्यथा वह "पुरुष षड्धातुक है" इस लक्षण के अन्तर्गत होंगे।

[३] अभिधम्म (धम्मसंगणि, ६४७) के अनुसार उपादायरूप स्प्रष्टव्यधातु नहीं है। संघभद्र इस मत का प्रतिषेध करते हैं। वह कहते हैं कि मूर्ख स्थविर का कहना है कि स्प्रष्टव्यधातु में उपादायरूप नहीं संगृहीत है (संघभद्र, ४, पृ. ३५२, कालम ३)—डाकुमेण्ट्स आफ अभिधर्म में सूत्रों की प्रामाणिकता पर विवाद देखिए।

कितने धातु 'संचित' हैं ?

[६७] ३५ डी. १० रूपी धातु संचित हैं।[1]

५ ज्ञानेन्द्रिय और उनके आलम्बन परमाणु-संचय (संघात) (ii. २२) हैं।

**छिनत्ति छिद्यते चैव बाह्यं धातुचतुष्टयम्।**
**दह्यते तुलयत्येवं विवादो दग्धृतुल्ययोः ॥३६॥**

१८ धातुओं में कितने छेदन करते हैं, कितने छिन्न होते हैं, कितने दाह करते हैं, कितने दग्ध होते हैं, कितने तौलते हैं, कितने तुलते हैं?

३६. चार बाह्य धातु छेदन करते हैं छिन्न होते हैं; इसी प्रकार दग्ध होते हैं और तौलते हैं। कौन दग्ध करता है और कौन तुलता है, इस विषय में विवाद है।[2]

रूप, रस, गन्ध और स्प्रष्टव्य छेदन करते हैं जब इनकी परशु आदि की संज्ञा होती है। यह छिन्न होते हैं जब इनकी दारु आदि की संज्ञा होती है।

छेदसंज्ञक धर्म क्या वस्तु है?—उस संघातस्रोत का विभक्तोत्पादन जिसका स्वभाव सम्बन्ध में उत्पन्न होना है। परशु दारुखंड-सन्तान का छेद करता है और उसको दो सन्तानों में विभक्त करता है जो पृथक् पृथक् वर्तमान होते हैं और वृद्धि को प्राप्त होते हैं। इन्द्रियों का छेद नहीं हो सकता। यथा निरवशेष अंग के छेद से कायेन्द्रिय, काय का द्वैधीकरण नहीं होता: छिन्न अर्थात् काय से अपगत अंग निरिन्द्रिय होते हैं।

अच्छ होने के कारण मणिप्रभा की तरह इन्द्रिय छेद नहीं करते। यह दग्ध होते हैं और तौलते हैं यथा छेद करते हैं और छिन्न होते हैं। केवल चार बाह्य धातु दग्ध होते हैं। यह तौलते हैं यथा जब वह तुलाभूत हो तौलते हैं। इन्द्रिय नहीं तौलते क्योंकि वह अच्छ हैं यथा मणि-प्रभा।

शब्द न छेद करता है, न छिन्न होता है, न दग्ध होता है, न तौलता है क्योंकि यह प्रवाह में वर्त्तमान नहीं होता।

(उच्छेदित्व, अप्रवाहवर्तित्व [व्या ६९.६])।

कौन दग्ध करता है और कौन तुलता है, इस पर विवाद है।

[६८] कुछ के अनुसार यही चार बाह्य धातु दाहक और तुल्य हैं। दूसरों के अनुसार केवल तेजोधातु दाह करता है जब वह अग्नि-ज्वाला में अपनी वृत्ति को उद्भूत करता है और केवल गुरुत्व तुल्य है। गुरुत्व एक प्रकार का उपादायरूप है (१.१० डी): आतपादि लघु द्रव्यों का अतुल्यत्व है यद्यपि वहाँ रूप की वृत्ति उद्भूत होती है।

---

[1] **संचिता दश रूपिणः॥ [व्या० ६८.३]**
**विभाषा, ७६, ३**

[2] **छिनत्ति छिद्यते चव बाह्यं धातुचतुष्टयम्। [व्या० ६८.९]**
**दह्यते तुलयत्येवं विवादो दग्धृतुल्ययोः॥ [व्या० ६८.३४]**
**विभाषा, १३३, ६.**

**विपाकजौपचयिकाः पंचाध्यात्मं विपाकजाः।**
**न शब्दोऽप्रतिघा अष्टौ नैष्यन्दिकविपाकजाः॥३७॥**
**त्रिधान्ये द्रव्यवानेकः क्षणिकाः पश्चिमास्त्रयः।**
**चक्षुर्विज्ञानधात्वोः स्यात् पृथग्लाभः सहापि च॥३८॥**

१८ धातुओं में कितने विपाकज, कितने औपचयिक, कितने नैष्यन्दिक हैं?

३७-३८ ए. ५ आध्यात्मिक धातु विपाकज और औपचयिक हैं; शब्द विपाकज नहीं है; ८ अप्रतिघ धातु नैष्यन्दिक और विपाकज हैं; अन्य तीन प्रकार के हैं।[1]

(१) लक्षण

१. विपाकज—अक्षरार्थ 'विपाक से उत्पन्न'। मध्यम पद का लोप है। 'विपाकहेतुज' (२.५४) के लिए विपाकज है यथा 'गोयुक्त रथ' के लिए 'गोरथ' कहते हैं।

अथवा 'विपाकज' पद में 'विपाक' शब्द का अर्थ विपाक नहीं है किन्तु कर्म है, विपच्यमान कर्म है, वह कर्म है जो फल-काल को प्राप्त है।[2] जो फल-कालप्राप्त कर्म है अर्थात् फल या विपाक से उत्पन्न होता है वह 'विपाकज' कहलाता है। फल को विपाक भी कहते हैं क्योंकि यह विपक्ति है।[3] अथवा 'विपाकज' का अर्थ है 'विपाकहेतु से जात' किन्तु यह नहीं कहना चाहिए कि 'हेतु' शब्द का लोप है। वास्तव में हेतु में प्रायः फल का उपचार होता है यथा प्रायः फल में हेतु का उपचार होता है: "यह ६ स्पर्शायतन पौराण कर्म हैं" (एकोत्तर, १४, ५; संयुत्त, २.६५, ४.१३२; नीचे २.२८) (२.पृ.२७१ देखिए)।

[६९] २. औपचयिक—अर्थात् जो आहार-विशेष (३.३९), संस्कार-विशेष (स्नानादि), स्वप्न-विशेष, समाधि-विशेष (४.६ सी) से उपचित होता है। एक मत के अनुसार[1] ब्रह्मचर्य भी उपचय में हेतु है किन्तु वास्तव में ब्रह्मचर्य से अनुपघात मात्र होता है। यह उपचय का कारण नहीं है।

उपचय-सन्तान विपाक-सन्तान की आरक्षा है यथा प्राकार परिवृत कर रक्षा करता है।

[२.३०१ देखिए; ३, विभाषा, ११८ के आरम्भ में, सिद्धि, १९० ]

३. नैष्यन्दिक अर्थात् निष्यन्द फल (२.५७) 'वह जो स्वकार्य-सदृश हेतु से उत्पन्न हुआ है।'

(२) मन इन्द्रिय को वर्जित कर ५ इन्द्रिय या आध्यात्मिक धातु विपाकज और औपचयिक

---

[1] **विपाकजौपचयिकाः पंचाध्यात्मं [विपाकजः।**
**न शब्दो] ऽप्रतिघा अष्टौ नैष्यन्दिकविपाकजाः॥**

[2] **त्रिधान्ये। [व्या० ६९.१७]**
**निर्वचन इस प्रकार है—विपच्यत इति विपाकः। विपाक वह है जो परिपक्व होता है।**

[3] **[६९.३२]**
**दूसरा निर्वचन—विपाकः=विपक्तिः। [व्याख्या ६९.३३]**

[1] **ऐसा प्रतीत होता है कि यह कदाचित् धर्मत्रात का मत है, १.४५ (नैन्जियो १२८७)।**

दोनों हैं। यह नैष्यन्दिक नहीं हैं क्योंकि यह नैष्यन्दिक तभी होते हैं जब यह विपाकज या औपचयिक होते हैं।[२]

(३) शब्द औपचयिक है क्योंकि अनुपचित काय होने से शब्द का सौष्ठव नहीं होता।[३] यह नैष्यन्दिक भी है। यह विपाकहेतु से उत्पन्न नहीं होता क्योंकि शब्द की प्रवृत्ति छन्द से (छन्द, २.२४) होती है।[४] (विभाषा)

आक्षेप--प्रज्ञप्तिशास्त्र कहता है कि "महापुरुष (३.९८) का यह लक्षण जिसे [७०] 'ब्रह्मस्वरता' कहते हैं पारुष्य-(४.७६सी) विरति के पूर्ण अभ्यास से निर्वर्तित होता है"।[१] अतः शब्द विपाक है।

शब्द का परम्पराभिनिर्वर्तन--- प्रथम मत--परम्परा में तीन क्षण हैं: (१) कर्म; (२) इस कर्म से जात महाभूत जो विपाकज हैं; (३) शब्द जो महाभूतों से उत्पन्न होता है। द्वितीय मत-परम्परा में पाँच क्षण हैं: (१) कर्म; (२) विपाकज महाभूत; (३) औपचयिक महाभूत; (४) नैष्यन्दिक महाभूत; (५) शब्द। अतः शब्द 'विपाकज' नहीं है क्योंकि यह कर्म के अनन्तर ही प्रवृत्त नहीं होता (विभाषा)।

आक्षेप -- इस युक्ति के अनुसार कायिकी वेदना (२.७) जो कर्म के अनन्तर ही उत्पन्न नहीं होती किन्तु कर्म से उत्पन्न महाभूतों के अनन्तर उत्पन्न होती है (३.३२) विपाकज न होगी।

उत्तर -- किन्तु प्रतिसंवेदन की इच्छा से वेदना का प्रवर्तन नहीं होता और शब्द की प्रवृत्ति भाषण की इच्छा से होती है। यदि इसकी प्रवृत्ति इच्छा से होती तो यह विपाकज न होती।

(४) अप्रतिघ (१.२९ बी) आठ धातु अर्थात् सप्त चित्त-धातु और धर्मधातु नैष्यन्दिक और विपाकज हैं: नैष्यन्दिक, जब वह सभाग हेतु और सर्वत्रग हेतु से (२.५२, ५४) जनित होते हैं; विपाकज, जब वह विपाक हेतु (२.५४ सी) से जनित होते हैं। वह औपचयिक नहीं हैं क्योंकि अरूपी धातुओं में संचय का अभाव है।

(५) अन्य धातु अर्थात् रूप, गन्ध, रस, स्प्रष्टव्य यह चार जिनका पूर्व वर्णन नहीं हुआ है त्रिविध हैं: विपाकज, जब वह इन्द्रियाविनिर्भागी होते हैं (१.३४); औपचयिक और नैष्यन्दिक।

---

२ चक्षुरिन्द्रिय रूप-प्रसाद के अस्तित्व के एक क्षण या अवस्था का हम विचार करते हैं। इस रूप का एक प्रदेश पौराण कर्म का विपाक है; एक अन्य प्रदेश आहार से प्रवृत्त होता है। यह सर्व रूप चक्षु के पूर्व क्षण या अवस्था का निष्यन्दफल है। किन्तु यह पूर्व क्षण या अवस्था स्वतः वर्तमान क्षण का उत्पाद करने में समर्थ नहीं हैः वास्तव में मृत का चक्षुर्धातु निष्यन्द से अनुवर्तन नहीं करता। अतः चक्षुर्धातु का लक्षण नैष्यन्दिक का नहीं है। इसके विपरीत आप काय के अस्थि को लें। मृत्यु के अनन्तर इसका अस्तित्व रहता है। अतः यह पूर्व क्षण से लेकर उसके अस्तित्व के प्रत्येक क्षण का निष्यन्दफल है। ४.२९ देखिए।
कथावत्थु, १२.४, १६.८ रूप को विपाक नहीं मानता।

३ विभाषा, ११८, १ में ९ हेतु परिगणित हैं। वसुबन्धु तृतीय हेतु उद्धृत करते हैं।

४ वात्सीपुत्रीय और विभज्यवादिन् का मत है कि शब्द विपाकज है।

१ कथावत्थु, १२, ३ में महासांघिकों द्वारा उद्धृत दीघ, ३.१७३ से तुलना कीजिएः सद्दो विपाको।

३८ ए. केवल एक धातु द्रव्यवान् है।[२] [व्या ७१.११]

[७१] असंस्कृत का सारत्व होने से (सारत्वात् = अविनाशात्) वह द्रव्य है। असंस्कृत धर्मधातु (१.१५) में संगृहीत है। अतः धर्मधातु ही एक धातु है जो द्रव्यवान् है।

३८ बी. अन्तिम तीन धातु क्षणिक हैं।[१]

अन्तिम तीन धातु मनोधातु, धर्मधातु, मनोविज्ञान-धातु हैं।

दर्शनमार्ग (६.२५) के प्रथम क्षण के और इसलिए प्रथम अनास्रव क्षण के अर्थात् दुःखे धर्मज्ञानक्षान्ति के क्षण के धर्म-कलाप में यह तीन धातु सभागहेतुक (२.५२) नहीं है क्योंकि इष्ट आश्रय के सन्तान में किसी अनास्रव धर्म का अभी प्रादुर्भाव नहीं हुआ है जो दुःखे धर्मज्ञानक्षान्ति का 'सभागहेतु' हो। इसीलिए यह तीन धातु क्षणिक कहलाते हैं क्योंकि एक क्षण के लिए यह इस हेतु से निर्वर्तित नहीं होते अर्थात् अनैष्यन्दिक होते हैं।

उक्त कलाप में क्षान्तिसंप्रयुक्त चित्त मनोधातु और मनोविज्ञानधातु है। इस चित्त के सहभू धर्म धर्मधातु हैं: अनास्रव संवर, (४.१३ सी) वेदना, संज्ञा, चेतना और अन्य चैत्त; प्राप्ति (२.३६) और संस्कृत लक्षण (२.४६)।

एक प्रश्न का विचार करना है। जो पुद्गल पूर्व असमन्वागत था और अब चक्षुर्धातु के समन्वागम का प्रतिलाभ करता है क्या वह चक्षुर्विज्ञानधातु के समन्वागम का भी प्रतिलाभ करता है? जो पूर्व असमन्वागत था और अब चक्षुर्विज्ञान धातु के समागम का प्रतिलाभ करता है क्या वह चक्षुर्धातु के समागम का भी प्रतिलाभ करता है?

[७२] ३८ सी-डी. चक्षुर्धातु और चक्षुर्विज्ञानधातु का लाभ पृथक् भी हो सकता है, एक साथ भी हो सकता है।[१]

१. चक्षुर्धातु से असमन्वागत पुद्गल चक्षुर्विज्ञानधातु के समन्वागम के लाभ के बिना ही चक्षुर्धातु के समन्वागम का लाभ करता है: (ए) कामधातु का पुद्गल जिसकी इन्द्रियाँ क्रम से प्रतिलब्ध होती हैं (२.१४), क्योंकि चक्षुरिन्द्रिय के प्रतिलाभ के पूर्व वह अपने अतीत (अन्तराभव ३.१४) और अनागत ('प्राप्ति' पर २.३६ बी) चक्षुर्विज्ञानधातु से समन्वागत होता है। (बी) जो पुद्गल आरूप्य धातु में मृत हो तीन ऊर्ध्व ध्यानों के लोकों में उपपपन्न होता है, क्योंकि वहां यद्यपि चक्षुर्धातु होता है तथापि चक्षुर्विज्ञानधातु का अभाव होता है (८.१३ ए-सी)।

२. चक्षुर्विज्ञानधातु से असमन्वागत पुद्गल चक्षुर्धातु के समन्वागम का प्रतिलाभ किए बिना ही चक्षुर्विज्ञानधातु के समन्वागम का लाभ करता है: (ए) तीन ऊर्ध्व ध्यान

---

[२] द्रव्यवानेकः [व्या० ७१.११]

[१] क्षणिकाश्चरमास्त्रयः।

[१] चक्षुर्विज्ञानधातोः स्यात् पृथक् लाभः सहापि च ॥ (व्याख्या ७१.२८)
विभाषा, १६२, १६; ८७, ७; धर्मत्रात [नैन्जियो १२८७], १.४८ सी.

के किसी लोक में उपपन्न पुद्‌गल प्रथमध्यानभूमिक चक्षुर्विज्ञानधातु (८.१३) को सम्मुख कर सकता है (सम्मुखीकुर्वाणः) : वह चक्षुर्धातु के समन्वागम का प्रतिलाभ नहीं करता, वह पहले से ही समन्वागत है; (बी) जो पुद्‌गल तीन ऊर्ध्व ध्यानों में से किसी से प्रच्युत होता है और अधर भूमि में उपपद्यमान होता है।

३. उभय से असमन्वागत पुद्‌गल उभय के समन्वागम का प्रतिलाभ करता है: जो पुद्‌गल आरूप्यधातु से च्युत होता है और कामधातु में या प्रथम ध्यान (ब्रह्मा लोक) में उपपन्न होता है।

हमने अब तक कारिका में प्रयुक्त 'लाभ 'शब्द को 'प्रतिलम्भ' के अर्थ में लिया है किन्तु उसका अर्थ 'प्राप्ति' (२.३६बी) भी हो सकता है। अतः यह प्रश्न हैः जो चक्षुर्धातु से समन्वागत है क्या वह चक्षुर्विज्ञानधातु से भी समन्वागत होता है? चार कोटि संभव हैं:

(ए) तीन ऊर्ध्व ध्यान के किसी लोक में उपपन्न पुद्‌गल अवश्यमेव चक्षुर्धातु के समन्वागम का प्रतिलम्भ करता है किन्तु वह चक्षुर्विज्ञानधातु के समन्वागम का प्रतिलाभ तभी करता है जब वह प्रथमध्यानभूमिक चक्षुर्विज्ञानधातु को सम्मुख करता है;

[७३] (बी) कामधातु का वह पुद्‌गल जिसने कललादि अवस्था में चक्षुरिन्द्रिय का प्रतिलाभ नहीं किया है या ~~जो~~ विहीनचक्षु हैः वह अन्तराभव-काल में (३.१४) या प्रतिसन्धि-काल में प्रतिलब्ध चक्षुर्विज्ञानधातु से समन्वागत रहता हैं;

(सी) काम धातु का वह पुद्‌गल जिसने चक्षुरिन्द्रिय का प्रतिलम्भ किया है और उसकी हानि नहीं की है, जो पुद्‌गल प्रथम ध्यानलोक में उपपन्न हुआ है, जो पुद्‌गल तीन ऊर्ध्व ध्यान के लोकों में से किसी लोक में उपपन्न हो, प्रथमध्यानभूमिक चक्षुर्विज्ञानधातु का सम्मुखीभाव करता है: यह तीन प्रकार के पुद्‌गल चक्षुर्धातु और चक्षुर्विज्ञानधातु से समन्वागत होते हैं;

(डी) इन आकारों के सत्त्वों के अतिरिक्त सत्त्व, आरूप्योपपन्न सत्त्व, चक्षुर्धातु और चक्षुर्विज्ञानधातु से असमन्वागत होता है। चक्षुर्धातु और रूपधातु, चक्षुर्विज्ञानधातु और रूपधातु, श्रोत्रधातु और शब्दधातु आदि के सहवर्तमान अथवा असहवर्तमान, प्रतिलम्भ और समन्वागम का अभ्यूहन यथायोग होना चाहिए।

**द्वादशाध्यात्मिका हित्वा रूपादीन् धर्मसंज्ञकः।**
**सभागस्तत्सभागाश्च शेषा यो न स्वकर्मकृत् ॥३९॥**

१८ धातुओं में कितने आध्यात्मिक और कितने बाह्य हैं?

३९ ए-बी. रूपादि को वर्जित कर १२ आध्यात्मिक हैं।[1]

---

[1] **द्वादशाध्यात्मिका रूपादिवर्ज्याः [व्या० ७४.२१]**
**विभाषा, १३८, १३. आध्यात्मिक और बाह्य धर्मों का भेद त्रिविध है:**
**१. सन्तान की दृष्टि से भेद: जो धर्म स्वात्मभाव में पाए जाते हैं वह आध्यात्मिक हैं, जो पर में पाए जाते हैं और जो असत्वाख्य (१.१० बी) हैं वह बाह्य हैं।**
**२. आयतन की दृष्टि से भेद: जो आयतन चित्त-चैत्त के आश्रय हैं वह आध्यात्मिक हैं;**

६ इन्द्रिय और ६ विज्ञान यह १२ धातु आध्यात्मिक हैं; विज्ञान के ६ आलम्बन अर्थात् रूपादि ६ बाह्य धातु हैं।

किन्तु कोई आत्मा नहीं है। इसलिए आध्यात्मिक धातु और बाह्य धातु यह आख्याएं कैसे हैं?

[७४] चित्त अहंकार का सन्निश्रय है; चित्त को मिथ्याभाव से आत्मा करके ग्रहण करते हैं। अतः चित्त में आत्मा का उपचार होता है। यथा गाथा में उक्त है "सुदान्त आत्मा से पंडित स्वर्ग की प्राप्ति करता है" और भगवत् ने अन्यत्र कहा है "चित्त का दमन अच्छा है; सुदान्त चित्त सुखावह होता है"[1]। किन्तु इन्द्रिय और विज्ञान आत्म शब्द से उक्त चित्त के प्रत्यासन्न (अभ्यासन्न) हैं: वास्तव में वह उसके आश्रय हैं; इस लिए उन्हें 'आध्यात्मिक कहते हैं और रूप तथा विज्ञानधातु के अन्य आलम्बन जो विषयभाव से वर्तमान हैं 'बाह्य' कहलाते हैं।

किन्तु क्या यह कह सकते हैं कि षड्विज्ञानधातु चित्त के आश्रय हैं? वह चित्त के आश्रय तभी होते हैं जब निरुद्ध हो कर वह मनोधातुत्व को (१.१७) प्राप्त होते हैं। अतः वह आध्यात्मिक नहीं हैं।

यह आक्षेप निःसार है। जब विज्ञानधातु निरुद्ध होकर चित्त के आश्रय होते हैं तब यही विज्ञानधातु हैं जो आश्रय होते हैं। अतः आश्रय होने के पूर्व यह आश्रय-लक्षण का अतिवर्तन नहीं करते। अतः इनके भविष्यदाश्रयभाव के कारण इनका आध्यात्मिकत्व है। यदि अन्यथा होता तो मनोधातु अतीतमात्र होता, वह अनागत और प्रत्युत्पन्न नहीं होता। किन्तु यह सुष्ठु ज्ञात है कि १८ धातु तीन अध्व के होते हैं। पुनः यदि अनागत अथवा प्रत्युत्पन्न विज्ञानधातु का मनोधातुत्व नहीं है तो अतीत होने पर उसका यह लक्षण बताना अयुक्त है। क्योंकि अध्व में धर्म के लक्षण का व्यभिचार नहीं होता (५.२५; विभाषा, २१,१६; ३९, २)।

१८ धातुओं में कितने सभाग हैं (नीचे पृ. ७७ देखिए)? कितने तत्सभाग हैं?

[७५] ३९ बी-सी. धर्मसंज्ञक धातु सभाग है।[1]

विषय सभाग कहलाता है जब कि विज्ञान जिसका यह नियत विषय है वहाँ उत्पन्न होता है या उत्पत्तिधर्मी है। किन्तु कोई ऐसा धर्म नहीं है जहाँ अनन्त मनोविज्ञान

---

**जो उसके आलम्बन हैं वह बाह्य हैं; ३. सत्त्व की दृष्टि से भेद : सत्त्वाख्य धर्म आध्यात्मिक हो सकते हैं, अन्य बाह्य हैं।**

[1] **आत्मना हि सुदान्तेन स्वर्गं प्राप्नोति पंडितः ......[व्या० ७४.२७]**
**चित्तस्य दमनं साधु चित्तं दान्तं सुखावहम् [व्या० ७४.३०]**
**उदानवर्ग, २३ देखिए; मध्यमकवृत्ति, पृ. ३५४; धम्मपद, १६०**

[1] **धर्मसंज्ञकः। सभागः [व्या० ७५.१५]**
**प्रकरण, फ़ोलिओ १८ बी १५-१९ ए ४**

उत्पन्न हो या उत्पत्ति-धर्मी हो। सब आर्य इस चित्त का उत्पाद अवश्यमेव करते हैं:"सर्व धर्म अनात्म हैं" (७.१३ ए) । यह यथार्थ है कि इस चित्त का आलम्बन न स्वभाव-धर्म है, न इसके सहभू धर्म इसके आलम्बन हैं (सहभू, २.५० बी) किन्तु यह चित्त और इसके सहभू धर्म 'सर्व अनात्मम्' इस चित्त के द्वितीय क्षण के आलम्बन हैं। अतः सर्व धर्म दो चित्त-क्षण (७.१८ सी-डी) के आलम्बन होते हैं। अतः धर्मधातु जो मनोविज्ञान का नियत विषय है नित्य सभाग है।

३९ सी-डी. अन्य धातु तत्सभाग भी हैं।[2]

'अपि' शब्द प्रदर्शित करता है कि शेष सभाग और तत्सभाग दोनों हैं।

यह तत्सभाग कब होते हैं ?

३९ डी. जब वे अपना कर्म नहीं करते।[3]

इससे यह उक्त होता है कि जो अपना कर्म करता है वह सभाग है।

१. जिस चक्षुर्धातु ने रूप देखा, जो रूप देखता है या जो रूप देखेगा वह सभाग कहलाता है---इसी प्रकार अन्य इन्द्रियों के बारे में अपने-अपने विषय और कारित्र (पुरुषकार, २.५८) से कहना चाहिए।

२. काश्मीर वैभाषिकों के अनुसार चक्षुरिन्द्रिय चार अवस्थाओं में तत्सभाग हैः जो चक्षुरिन्द्रिय बिना देखे निरुद्ध हुआ है, होता है, निरुद्ध होगा और अनुत्पत्ति-धर्मा (५.२४) [७६] चक्षुरिन्द्रिय । पाश्चात्यों के अनुसार अनुत्पत्तिधर्मा चक्षुरिन्द्रिय दो प्रकार का है--- चक्षुर्विज्ञान से संप्रयुक्त (=संबद्ध), असम्प्रयुक्त । अन्य विज्ञानेन्द्रियों के लिए भी इसी प्रकार समझना चाहिए। मनोधातु तत्सभाग है जब यह उत्पत्ति-धर्मा नहीं है; वास्तव में जब यह उत्पन्न होता है तब नित्य सालम्बन होता है।[1]

३. जो रूप चक्षुरिन्द्रिय से देखे जा चुके हैं, देखे जा रहे हैं, देखे जावेंगे, वह सभाग हैं। जब वह बिना देखे निरुद्ध हो गए हैं, निरुद्ध होते हैं या निरुद्ध होंगे और जब वह उत्पत्ति-

---

[2] तत्सभागोऽपि शेषो [व्या ७५.२९ में 'तत्सभागाश्च शेषाः' पाठ है।]

[3] यो न स्वकर्मकृत् [व्या० ७६.३]

[1] विभाषा, ७१, ८. जो इन्द्रिय रूप देख चुका है, रूप देखता है या रूप देखेगा और तत्सभाग (अर्थात् वह इन्द्रिय जो इस इन्द्रिय के सदृश है) चक्षुर्धातु है। जो इन्द्रिय देख चुका है वह अतीत चक्षुर्धातु है; जो देखता है वह प्रत्युत्पन्न चक्षुर्धातु है, जो देखेगा वह अनागत चक्षुर्धातु है। तत्सभाग के विषय में इस देशके आचार्य कहते हैं कि यह चार प्रकार का हैः अतीत, प्रत्युत्पन्न, अनागत, तत्सभाग चक्षु। यह वह चक्षुर्धातु है जो रूप को बिना देखे निरुद्ध हो गया है, निरुद्ध हो रहा है, निरुद्ध होगा। चतुर्थ प्रकार और बतलाना चाहिए। यह वह चक्षुर्धातु है जो सर्वथा उत्पन्न नहीं होगा।
बहिर्देशक कहते हैं कि यह पांच प्रकार का है: अतीत, प्रत्युत्पन्न, अनागत, जैसा पूर्वोक्त। इनके अतिरिक्त अनागत चक्षुर्धातु जो सर्वथा उत्पन्न न होगा दो प्रकार का है: विज्ञान-संप्रयुक्त, विज्ञान से असंप्रयुक्त।

धर्मा नहीं हैं तब वह तत्सभाग हैं। इसी प्रकार अन्य विज्ञान-विषयों के बारे में उनके अपने-अपने इन्द्रिय और कारित्र को सूचित कर कहना चाहिए।

४. जो चक्षुर्धातु सभाग या तत्सभाग है वह सबके लिए सभाग या तत्सभाग है, अर्थात् उसके लिए जिसका वह चक्षु है तथा दूसरों के लिए। अन्य इन्द्रियों के लिए भी इसी प्रकार समझना चाहिए। किन्तु रूप उसके लिए सभाग है जो देखता है, उसके लिए तत्सभाग है जो नहीं देखता है। वास्तव में रूप जिसको एक पुद्‌गल देखता है अनेकों से देखा जा सकता है, यथा चन्द्र, दृश्य, मल्लयुद्ध। किन्तु दो पुद्‌गल एक ही इन्द्रिय से नहीं देखते। अतः चक्षुर्धातु के सामान्य [७७] न होने से यह पुद्‌गल की दृष्टि से सभाग या तत्सभाग कहलाएगा: चक्षुर्धातु सभाग है जब यह रूप देखता है; तब भी जब कि इसने दूसरा रूप नहीं देखा है, नहीं देखता है, नहीं देखेगा। इसके विपरीत रूप सामान्य है: अनेक पुद्‌गलों की दृष्टि से यह सभाग और तत्सभाग कहलाएगा। जो इसे देखते हैं उनके लिए यह सभाग है, जो इसे नहीं देखते हैं उनके लिए यह तत्सभाग है।

रूप के समान शब्द, गन्ध, रस और स्प्रष्टव्य हैं।[1] शब्द के लिए ऐसा कह सकते हैं क्योंकि शब्द का ग्रहण रूप के समान दूर से होता है और अनेक पुद्‌गलों से हो सकता है (१.४३ सी-डी)। किन्तु गन्ध, रस और स्प्रष्टव्य की उपलब्धि दूर से नहीं होती। उनका ग्रहण केवल तभी होता है जब वह इन्द्रिय को प्राप्त होते हैं, स्वघ्राणादिक में प्रवेश करते हैं। इसलिए एक से गृहीत गन्ध दूसरे से गृहीत नहीं होता। अतः यह विषय साधारण नहीं हैं और सभाग, तत्सभाग के लिए हमें इन्हें इन्द्रियों से अनुगत करना चाहिए, इनका अतिदेश न्याय्य है: जब वह एक सत्त्व के लिए सभाग हैं तब वह सबके लिए सभाग हैं[1]। हमारा उत्तर है कि हम इन विषयों को साधारण मानते हैं क्योंकि वह साधारण हो सकते हैं। वास्तव में यह संभव है कि वही गन्ध—एक ही गन्ध का परमाणु-कलाप—जो एक में घ्राण-विज्ञान उत्पन्न करता है दूसरे से भी गृहीत हो। किन्तु इन्द्रियों के लिए ऐसा नहीं होता। अतः गन्ध, रस और स्प्रष्टव्य को रूप और शब्द से अनुगत करना चाहिए।

५. षड् विज्ञानधातु सभाग हैं यदि वह उत्पत्तिधर्मा हैं। वह तत्सभाग हैं यदि वह अनुत्पत्ति-धर्मा हैं। मनोधातु के समान।

६. सभाग, तत्सभागका क्या अर्थ है?

[७८] 'भाग' से इन्द्रिय, विषय और विज्ञान का आश्रय, विषय, आश्रयिभाव से अन्योन्य-भजन समझना चाहिए। अथवा 'भाग' का अर्थ कारित्र-भजन है: चक्षुरादि का

---

[1] **विभाषा, ७१.९—तीन मत—क्या दूसरे के चक्षु से कोई रूप देख सकता है?—इस मत का कौन है?—यदि दूसरे के चक्षु से नहीं देखा जा सकता तो एक पुद्‌गल का चक्षु अन्य पुद्‌गलों के सम्बन्ध में सभाग कैसे कहला सकता है? क्योंकि चक्षु का कारित्र नियत है: देखना इसका कारित्र है। जब चक्षु अपना कारित्र कर के निरुद्ध हो जाता है तब उसे सभाग कहते हैं। न उस पुद्‌गल के लिए, न दूसरे के लिए, यह 'सभाग' नाम बदलता है। इसी प्रकार . . . . . .**

दर्शनादि कारित्र है; विषयधातु का कारित्र विज्ञान का विषय, आलम्बन होना है, दृष्टादि होना है; विज्ञानधातु का कारित्र विज्ञातृत्व है।

जो धर्म भाग अर्थात् उन इन्द्रिय, विषय और विज्ञान के साथ (स-) वर्तमान हैं जो अपना कारित्र-भजन रखते हैं अथवा उन इन्द्रिय, विषय और विज्ञान के साथ वर्तमान हैं जो अन्योन्य-भजन करते हैं, सभाग कहलाते हैं। अथवा सभाग वह धर्म हैं जिनका समान कार्य स्पर्श है अर्थात् चक्षु, रूप, चक्षुर्विज्ञान आदि (३.२२) का सन्निपात।[1] जो असभाग हैं किन्तु इन सभागों के सदृश हैं वह 'तत्सभाग' हैं अर्थात् 'तत् (उस) के सभाग' अर्थात् सभाग के सभाग (सभाग-सभाग)।[2]

**दश भावनया हेयाः पंच चान्त्यास्त्रयस्त्रिधा।**
**न दृष्टिहेयमक्लिष्टं न रूपं नाप्यषष्ठजम् ॥४०॥**

कितने धातुओं का प्रहाण (हा, प्रहा, ५.२८, ६.१) सत्य-दर्शन से, दूसरे शब्दों में दर्शनमार्ग से या दर्शन से (६.२५ बी), हो सकता है? कितनों का सत्य की भावना से, दूसरे शब्दों में भावना-मार्ग से या भावना से? कितने धातुओं का प्रहाण नहीं होता अर्थात् अहेय हैं?

४० ए-बी. १० और ५ भावना से हेय हैं; अन्तिम ३, तीन प्रकार के हैं[3]।

[७९] १. १० रूपीधातु, इन्द्रिय और विषय और ५ विज्ञानधातु भावनाहेय हैं। प्रहाण की दृष्टि से अन्तिम तीन धातुओं में, मनोधातु, धर्मधातु और मनोविज्ञानधातु में, तीन प्रकार के धर्म हैं:

(ए) ८८ अनुशय (५.४), सहभू धर्मों के साथ—चाहे यह सहभू संप्रयुक्त (२.२४) हों या विप्रयुक्त (२.४६, लक्षण और अनुलक्षण)—उक्त अनुशय और उक्त सहभुओं की प्राप्ति (२.३६) के साथ, उक्त प्राप्तियों के अनुचर के साथ (अनुप्राप्ति और लक्षण), दर्शनहेय हैं।

---

[1] भज्यत इति भागः—भाग शब्द की व्युत्पत्ति कर्मणि प्रत्यय से करते हैं। [व्या० ७७.६]

[2] जो चक्षु बिना देखे निरुद्ध होता है वह उस चक्षु के सदृश है जो देखता है, इत्यादि। माध्यमिक (वृत्ति, पृ. ३२ और टिप्पणी जिसे शोधना चाहिए) इस वाद के एक अंश को लेते हैं: "परमार्थतः सभाग चक्षु रूप नहीं देखता क्योंकि यह इन्द्रिय है, यथा तत्सभाग"—न परमार्थतः सभागं चक्षुः पश्यति रूपाणि, चक्षुरिन्द्रियत्वात्, तद्यथा तत्सभागम्।

[3] दश भावनया हेयाः पंच चान्त्यास्त्रयस्त्रिधा। [व्या० ७७.१६, १९ त्रयः के स्थान में त्रयं पाठ है।] विभाषा, १५१, ९—विभंग पृष्ठ १२, १६, ९७; धम्मसंगणि, १००२, १००७, १००८ में इसी प्रश्न पर विचार किया गया है। तीन प्रकार—दर्शनहेय, भावनाहेय, अहेय। विहानि और परिहाणि में विशेष है, ६.१७३. अनास्रव धर्मों (मार्गसंगृहीत धर्मों) का निसर्ग होता है किन्तु इनका दर्शन या भावना से प्रहाण नहीं होता। यह अप्रतिसंख्यानिरोध, ८.२०९ के आलंबन हैं। शब्दानुक्रमणिका में अहेय शब्द देखिए। विभाषा, ३२ पृ० ३६४, कालम २, डाकुमेण्ट्स आफ अभिधर्म में (निःसरण पर) और सिद्धि ६६६ [सिद्धि में विभाषा ३२ प. १६४, कालम २ है।]

(बी) शेष सास्रव धर्म भावनाहेय हैं: १. सहभू, प्राप्ति आदि के साथ १० अनुशय (५.५); २. कुशल सास्रव और अनिवृताव्याकृत (२.६६) संस्कार; ३. सास्रव सानुचर अविज्ञप्ति (४.१३)।

(सी) अनास्रव धर्म अर्थात् असंस्कृत और मार्गसत्य अहेय हैं।

२. आक्षेप— वात्सीपुत्रीयों का मत है कि केवल ८८ अनुशय ही नहीं किन्तु अन्य धर्म भी दर्शनहेय हैं। (१) पृथग्जनत्व[1] अनिवृताव्याकृत धर्म है: तुम उसे भावनाहेय धर्मों में रखते हो; (२) अपायसंवर्तनीय काय-वाक्-कर्म रूप है: तुम उसे भी दूसरे प्रकार में रखते हो। किन्तु पृथग्जनत्व और नियत आपायिक कर्म आर्यमार्ग-विरोधी हैं, दर्शनमार्ग-विरोधी हैं। अतः हमारे अनुसार दोनों दर्शनहेय हैं। वात्सीपुत्रीयों के वाद का प्रतिषेध करने के लिए आचार्य संक्षेप में कहते हैं:

४० सी-डी. न अक्लिष्ट, न रूप, न अषष्ठज दर्शनहेय हैं।[2]

[८०] १. जो अक्लिष्ट है, जो न अकुशल है, न निवृताव्याकृत (२.६६) है, जो रूप है, उसका प्रहाण दर्शन से नहीं हो सकता। किन्तु पृथग्जनत्व क्लिष्ट नहीं है: जिस पुद्गल ने कुशल-मूल का समुच्छेद किया है (४.७९), जो पुद्गल वीतराग है वह पृथग्जनत्व से समन्वागत हो सकता है। किन्तु काय-वाक्-कर्म रूप हैं।

पृथग्जनत्व और काय-वाक्-कर्म की सत्य से विप्रतिपत्ति नहीं है क्योंकि प्रथम १. क्लेशों से क्लिष्ट नहीं है, २. विज्ञान नहीं है, अनालम्बक है; क्योंकि द्वितीय अनालम्बक है। अतः दोनों में से कोई भी दर्शनहेय नहीं है।

पुनः यदि पृथग्जनत्व दर्शनहेय होता तो दुःखे धर्मज्ञानक्षान्ति में पृथग्जनत्व का प्रसंग होता जो अयथार्थ है।[1]

२. 'षष्ठ' से मनोधातु समझना चाहिए। 'अषष्ठज' उसे कहते हैं जो षष्ठ इन्द्रिय से भिन्न इन्द्रिय से उत्पन्न है अर्थात् जो चक्षुरादि पंचेन्द्रिय से उत्पन्न है। यहाँ चक्षुरादि विज्ञान इष्ट हैं। यह भी दर्शनहेय नहीं हैं।

**चक्षुश्च धर्मधातोश्च प्रदेशो दृष्टिरष्टधा।**
**पंचविज्ञानसहजा धीर्न दृष्टिरतीरणात् ॥४१॥**

१८ धातुओं में कितने 'दृष्टि' हैं?

---

[1] पृथगजनत्व पर २.४० सी; ६.२६ ए, २८ सी-डी, सिद्धि ६३९ देखिए। विभाषा, ४५, १ में वसुमित्र, भदन्त और घोषक के विविध निर्देश।

[2] न दृष्टिहेयमक्लिष्टं न रूपं नाप्यषष्ठजम्। [व्या० ७८.७] २.१३, ४.११ ए-बी देखिए।

[1] प्रथम अवस्था आनन्तर्य मार्ग की है; दूसरी अवस्था विमुक्ति मार्ग की है, वह मार्ग जिसमें क्लेश विनष्ट होते हैं (६.२८)

४१ ए-बी. चक्षु और धर्मधातु के ८ भाग दृष्टि हैं।[२]

धर्मधातु के यह आठ भाग क्या हैं?

सत्कायदृष्टि आदिक पाँच दृष्टि—इनका व्याख्यान अनुशय कोश स्थान में (५.७) होगा। [८१]लौकिकी सम्यग् दृष्टि अर्थात् मनोविज्ञानसंप्रयुक्त कुशल सास्रव प्रज्ञा (२.२४)—शैक्षी दृष्टि अर्थात् शैक्ष की अनास्रव दृष्टि—अशैक्षी दृष्टि अर्थात् अशैक्ष (६.५०) की अनास्रव दृष्टि। यह ८ धर्म जो धर्मधातु में संगृहीत हैं 'दृष्टि' है। दृष्टान्त: यथा रात्रि को और दिन को, समेघ आकाश और अमेघ आकाश में, रूप-दर्शन होता है उसी प्रकार (१) क्लिष्ट लौकिकी दृष्टि से—५ दृष्टियों से, (२) अक्लिष्ट लौकिकी दृष्टि या सम्यक् लौकिकी दृष्टि से; (३) शैक्षी दृष्टि से, (४) अशैक्षी दृष्टि से, धर्म-दर्शन होता है। लौकिकी सम्यग्दृष्टि केवल मनोविज्ञानसंप्रयुक्त प्रज्ञा क्यों समझी जाती है?

४१ सी-डी. जो प्रज्ञा पंच विज्ञानकाय के साथ उत्पन्न होती है वह दृष्टि नहीं है क्योंकि वह उपनिध्यानपूर्वक संतीरण नहीं है।[१] 'दृष्टि' तीरण, संतीरण है अर्थात् उपनिध्यान-पूर्वक[२] निश्चयाकर्षण है। किन्तु पंचविज्ञानसहोत्पन्न प्रज्ञा का यह लक्षण नहीं है। अतः यह 'दृष्टि' नहीं है। अतएव मानसी प्रज्ञा भी चाहे क्लिष्ट हो या अक्लिष्ट, 'दृष्टि' नहीं है अर्थात् जब वह प्रत्यवेक्षणमात्र है (७.१)

किन्तु यह कहा जायगा कि चक्षुरिन्द्रिय उपनिध्यानपूर्वक संतीरण से समन्वागत नहीं है। आप यह कैसे कहते हैं कि यह दृष्टि है? यहाँ 'दृष्टि' का अर्थ रूपों का आलोचन है।

**चक्षुः पश्यति रूपाणि सभागं न तदाश्रितम्।**
**विज्ञानं दृश्यते रूपं न किलान्तरितं यतः ॥४२॥**

४२. चक्षु रूप देखता है जब वह सभाग है; यह तदाश्रित विज्ञान नहीं है जो देखता है [८२] क्योंकि अन्तरित रूप नहीं देखा जाता। ऐसा वैभाषिकों का मत है।[१]

---

[२] चक्षुश्च धर्मधातोश्च प्रदेशो दृष्टिरष्टधा। [व्या० ७९.१९]
विसुद्धिमग्ग, ५०९ में 'लौकिकी सम्मादिट्ठि' नहीं है: इसमें केवल वही सम्मादिट्ठि है जो 'मग्गंग', बोज्झंग है (कोश, ६.२९०)।

[१] पंचविज्ञानसहजा धीर्न दृष्टिरतीरणात्॥
छन्द के कारण 'प्रज्ञा' के स्थान में 'धी' (२.५७ डी)।

[२] उपनिध्यान, ८.१.

[१] चक्षुः पश्यति रूपाणि सभागं न तदाश्रितम्।
विज्ञानं दृश्यते रूपं न किलान्तरितम् यतः॥ [व्या० ८०.१५]
न्यायबिन्दुटीकाटिप्पणी, पृ० २६ देखिए; बोधिचर्यावतारपंजिका, पृ० ५२०; अत्थसालिनी पृ० ४००; वारेन (विसुद्धिमग्ग), पृ० २९७; बुद्धिस्ट साइकालोजी पृ० ३५१, टिप्पणी; स्पेन्स हार्डी, मैनुएल पृ० ४१९—
कथावत्थु, १८.९ में यह वाद कि 'चक्षु देखता है' महासांघिकों का बताया गया है। समयभेद, वैसीलीफ़, पृ० २६२ से तुलना कीजिए। वैसीलीफ़ कोश के विवाद को पुनः आरंभ

१. विज्ञानवादी के अनुसार चक्षु नहीं देखता, चक्षुर्विज्ञान देखता है। वह कहता है कि "यदि चक्षु देखता है तो श्रोत्रविज्ञान या कायविज्ञान में व्यासक्त पुद्‌गल का चक्षु देखेगा (१.६ सी-डी)"। हम यह नहीं कहते कि सब चक्षु देखता है। चक्षु देखता है जब वह सभाग है (१.३९) अर्थात् जब वह चक्षुर्विज्ञानसमंगी है, चक्षुर्विज्ञान को सम्मुख करता है।

किन्तु तब जो देखता है वह चक्षुराश्रित विज्ञान है।

नहीं, क्योंकि कुडच या अन्य किसी व्यवधान से आवृत रूप दिखाई नहीं पड़ता। किन्तु [८३] विज्ञान अमूर्त है, अप्रतिघ (१.२९ बी) है। अतः यदि चक्षुर्विज्ञान देखता होता तो वह व्यवधान से आवृत रूप भी देखता।

विज्ञानवादी उत्तर देता है। आवृत रूप के प्रति चक्षुर्विज्ञान उत्पन्न नहीं होता; उनके प्रति उत्पन्न न होने से यह उनको नहीं देखता।

किन्तु इन रूपों के प्रति यह उत्पन्न क्यों नहीं होता ? हम वैभाषिकों के लिए जिनका पक्ष है कि चक्षु देखता है और जो मानते हैं कि चक्षु के सप्रतिघ होने से व्यवहित रूप में चक्षु की वृत्ति का अभाव है यह बताना सुगम है कि चक्षुर्विज्ञान की अन्तरित रूप के प्रति उत्पत्ति क्यों नहीं होती : वास्तव में विज्ञान की प्रवृत्ति उसी एक विषय में होती है जिसमें उसके आश्रय की होती है। किन्तु यदि आपका मत है कि विज्ञान देखता है तो आप इसका कैसे व्याख्यान करते हैं कि व्यवहित रूप में विज्ञान की उत्पत्ति नहीं होती ?

२. आचार्य विज्ञानवादी के पक्ष को लेकर कहते हैं और वैभाषिक के अन्तिम उत्तर का विसर्जन करते हैं।

क्या आपका मत है कि चक्षुरिन्द्रिय प्राप्त विषय को देखता है जैसे कायेन्द्रिय स्प्रष्टव्य का

---

करते हैं, पृ० ३०८ ("डास आगे निख्ट डास मास डे सिख्तबारेन जीत" पाठ है, न कि "इस्ट")।

विभाषा, ९५, १. एक मत के अनुसार सब संस्कृत स्वभावतः 'दृष्टि' हैं। 'दृष्टि' से पटु प्रचार का अर्थ लिया जाता है। सब संस्कृतों का यह स्वभाव है। दूसरों का कहना है कि क्लेशों के निरोध और अनुत्पाद का ज्ञान (क्षयानुत्पादज्ञान, ७.१) दृष्टि है।

१३,१. धर्मत्रात कहते हैं कि चक्षुर्विज्ञान रूप देखता है। घोषक कहते हैं कि चक्षुर्विज्ञान-संप्रयुक्त प्रज्ञा रूप देखती है। दार्ष्टान्तिक कहते हैं कि सामग्री रूप देखती है। वात्सीपुत्रीय कहते हैं कि केवल एक चक्षु रूप देखता है......यदि चक्षुर्विज्ञान रूप देखता है तो विज्ञान का स्वभाव दर्शन होगा किन्तु ऐसा नहीं है : अतः यह मत सदोष है। यदि चक्षुर्विज्ञानसंप्रयुक्त प्रज्ञा रूप देखती है तो श्रोत्रविज्ञान से संप्रयुक्त प्रज्ञा शब्द श्रवण करेगी, किन्तु प्रज्ञा का श्रवणस्वभाव नहीं है। अतः यह मत सदोष है। यदि 'सामग्री' रूप देखती है तो रूप-दर्शन सदा होगा क्योंकि 'सामग्री' का सदा सम्मुखीभाव है। यदि एक चक्षु, दो चक्षु नहीं, रूप देखता है तो काय के अंग एक ही समय में स्प्रष्टव्य का प्रतिसंवेदन नहीं करेंगे। यथा दो बाहु में यद्यपि अन्तर है तथापि वह एक साथ स्प्रष्टव्य का अनुभव कर सकते हैं और एक कायविज्ञान का उत्पाद कर सकते हैं। उसी प्रकार इसमें क्या आपत्ति है कि दो चक्षु यद्यपि एक दूसरे से दूर हैं तथापि वह एक साथ देखते हैं और एक चक्षुर्विज्ञान का उत्पाद करते हैं ?......

अनुभव करता है ? (१.४३ सी-डी) इस पक्ष में मैं मानूँगा कि चक्षुरिन्द्रिय के सप्रतिघ होने से वह व्यवहित रूप का ग्रहण नहीं करता। किन्तु आपका मत है कि चक्षुरिन्द्रिय दूर से देखता है। अतः आपको यह कहने का अधिकार नहीं है कि सप्रतिघ होने से यह व्यवहित रूप नहीं देखता। पुनः हम काच, अभ्रपटल, स्फटिक और जल से अन्तरित रूप कैसे देखते हैं ?—अतः मैं कहूँगा कि चक्षुर्विज्ञान देखता है ; यह आवृत रूपों के प्रति उत्पन्न होता है जहाँ आलोक में प्रतिबन्ध नहीं है; विपरीत अवस्था में यह नहीं उत्पन्न होता ।[1]

३. वैभाषिक सूत्र का प्रमाण देते हैं। सूत्र-वचन है कि "चक्षु से रूपों को देखकर"।[2] अतः चक्षु देखता है, न कि चक्षुर्विज्ञान ।

[८४] हमारा उत्तर है कि सूत्र का अभिप्राय यह कहने का है कि "चक्षुरिन्द्रिय के आश्रय से (तेन आश्रयेण), चक्षु को आश्रय बना (आश्रित्य), रूप देखकर"। वास्तव में यही सूत्र कहता है कि "मनस् से धर्मों को जान कर (विज्ञाय)": किन्तु अनन्तरातीत मनस् (१.१७) धर्मों को नहीं जानता; मनोविज्ञान से धर्म जाना जाता है। अतः यदि सूत्र-वचन है "मनस् से" तो सूत्र की अभिसन्धि यह कहने की है : "मनोविज्ञान के आश्रय, मन-इन्द्रिय का आश्रय लेकर"। इसी प्रकार दर्शन और चक्षु के लिए समझना चाहिए।

हम यह भी मान सकते हैं कि सूत्र आश्रय में, इन्द्रिय में, आश्रित विज्ञान के कर्म का उपचार करता है। यथा लोक में कहते हैं "मंच चिल्लाते हैं (मंचाः क्रोशन्ति)"। 'मंच' मंचस्थ पुरुष हैं। कहने का यह प्रकार प्रवचन में सामान्य है। सूत्र में पठित है कि "कान्त और अमनाप रूप चक्षु से विज्ञेय हैं।" किन्तु आपका यह मत नहीं है कि चक्षु देखता है। आप के अनुसार विज्ञान देखता है जिसका आश्रय चक्षु है।

सूत्र (संयुक्त, ९, २०) यह भी कहता है कि "हे ब्राह्मण ! रूपों के दर्शन के लिए चक्षुरिन्द्रिय द्वार है।" यह आगम समर्थन करता है कि विज्ञान चक्षुद्वार से देखता है। आपका यह मत नहीं है कि 'द्वार' आख्या का अर्थ 'दर्शन' है क्योंकि यह कहना अयुक्त होगा कि "चक्षुरिन्द्रिय रूपों के दर्शन के लिए दर्शन है।"

४. वैभाषिक का आक्षेप—यदि चक्षुर्विज्ञान देखता है (पश्यति) तो वह कौन है जो जानता है (विजानाति) (१.४८ ए) ? दर्शन और विज्ञान इन दो क्रियाओं में क्या अन्तर है जिसके कारण एक धर्म एक ही समय में देख और जान न सके ? क्या यह नहीं कहा जाता कि एक प्रज्ञाविशेष (दर्शनात्मिका, ७.१) देखता है (पश्यति) और जानता है (प्रजानाति)[1] ?

[८५] इसी प्रकार एक विज्ञान, चक्षुर्विज्ञान, देखता और जानता है। दो नाम से एक ही क्रिया प्रज्ञप्त है।

[1] यह भदन्त का वाद है (विभाषा, १३, ७)।

[2] चक्षुषा रूपाणि दृष्ट्वा......३.३२ डी में उद्धृत है [व्या० ८१.१३]। संयुक्त, १३, ४; विभंग, पृ० ३८१; मध्यमकवृत्ति, पृ० १३७; धम्मसंगणि, पृ० ५९७—महासांघिकों का यह तर्क है, कथावत्थु, १८.९.

[1] इस वाक्य से तुलना कीजिए : तस्यैवं जानत एवं पश्यतः.... [व्या० ८२.९]

५. 'चक्षुर्विज्ञान देखता है' इस पक्ष के कतिपय वादी अर्थात् वात्सीपुत्रीय आक्षेप करते हैं : यदि चक्षुरिन्द्रिय देखता है तो वह अन्य दृष्टि-क्रिया क्या है जिसे आप इस क्रिया के कर्त्ता इस इन्द्रिय को बताते हैं?

यह अचोद्य है। यथा आप कर्त्ता और क्रिया के भेद को बिना स्वीकार किए मानते हैं कि विज्ञान जानता है (विजानाति) उसी प्रकार हम कहते हैं कि चक्षु देखता है।

६. एक दूसरे मत के अनुसार अर्थात् धर्मगुप्तों के अनुसार चक्षुर्विज्ञान देखता है किन्तु क्योंकि चक्षुरिन्द्रिय इस विज्ञान का आश्रय है इसलिए कहते हैं कि चक्षु देखता है। यथा लोक में कहते हैं कि घंटा नाद करता है क्योंकि यह नाद का आश्रय है।

किन्तु इस नियम के अनुसार यह भी कहना चाहिए कि चक्षुरिन्द्रिय जानता है (विजानाति) क्योंकि चक्षुर्विज्ञान का यह आश्रय है। नहीं। क्योंकि लोक में दर्शन चक्षुर्विज्ञान के अर्थ में रूढ़ है। वास्तव में जब यह विज्ञान उत्पन्न होता है तब कहते हैं कि 'रूप दृष्ट है', यह कोई नहीं कहता कि रूप विज्ञात है। और विभाषा (९५, २) में भी यही अर्थ अभिहित है : 'दृष्ट' उसे कहते हैं जो चक्षुरिन्द्रिय से संप्राप्त है, जो चक्षुराभासगत है (चक्षुः संप्राप्त = चक्षुराभासगत) और विज्ञान से अनुभूत है। अतः लोक में कहते हैं कि चक्षु देखता है क्योंकि यह देखने वाले चक्षुर्विज्ञान का आश्रय है; यह नहीं कहते कि यह जानता है क्योंकि चक्षुर्विज्ञान की क्रिया दर्शन है, न कि विज्ञान। दूसरी ओर जब कहते हैं कि विज्ञान जानता है तो उनका यह अर्थ नहीं होता कि यह एक विज्ञान के आश्रय-भाव के योग से जानता है जिस तरह कहते हैं कि चक्षु देखता है क्योंकि यह चक्षुर्विज्ञान का आश्रय है। हम जानते हैं कि विज्ञान सान्निध्यमात्र से जानता है, यह स्वयं विज्ञान है। यथा कहते हैं कि सूर्य दिवसकर है।[1]

[८६] सौत्रान्तिक मत--यह निर्व्यापार है। सूत्र में उक्त है कि "चक्षु और रूप के कारण चक्षुर्विज्ञान उत्पन्न होता है" : न कोई इन्द्रिय है जो देखती है, न कोई रूप है जो देखा जाता है; न कोई दर्शन-क्रिया है, न कोई कर्त्ता है जो देखता है; हेतु-फलमात्र है। अपनी इच्छा के अनुसार व्यवहार के लिए उपचार करते हैं : "चक्षु देखता है, विज्ञान जानता है।" किन्तु इन उपचारों में अभिनिविष्ट न होना चाहिए। भगवद्-वचन है कि जनपद-निरुक्ति में अभिनिवेश न करो, लोक-संज्ञा का अतिसरण न करो।[1]

---

[1] भाष्य--विज्ञानं तु सान्निध्यमात्रेण यथा सूर्यो दिवसकर इति। व्याख्या--विज्ञानं तु सांनिध्यमात्रेणेति नाश्रयभावयोगेनेति दर्शयति। यथा सूर्यो दिवसकर इति। यथा सान्निध्यमात्रेण सूर्यो दिवसं करोतीति उच्यते तथा विज्ञानं विजानातीत्युच्यते। कस्मात्। लोके तथा सिद्धत्वात्। [व्या० ८२.२४]

[1] अथवा : "लोक में प्रचलित संज्ञा का त्याग इस कारण नहीं करना चाहिए कि वह असत् वस्तु हैं। [व्या० ८३.३] "जनपदनिरुक्तिं नाभिनिविशेत संज्ञां च लोकस्य नातिधावेत्। (मध्यम ४३, १८; संयुक्त, १३, १२)। मज्झिम, ३.२३० से तुलना कीजिए : जनपद-निरुत्तिं नाभिनिवेसेय्य समञ्ञं नातिधावेय्य; संयुत्त, ४.२३०:

८. काश्मीर वैभाषिकों के अनुसार चक्षु देखता है, श्रोत्र सुनता है, घ्राण सूंघता है, जिह्वा रस लेती है, काय स्पर्श करता है, मनस् जानता है।

**उभाभ्यामपि चक्षुर्भ्यां पश्यति व्यक्तदर्शनात्।**
**चक्षुःश्रोत्रमनोऽप्राप्तविषयं त्रयमन्यथा ॥४३॥**

एक चक्षु से या दो चक्षु से रूप देखे जाते हैं?

४३ ए-बी. दो चक्षु से भी रूप देखे जाते हैं क्योंकि दो से शुद्ध दर्शन होता है।[२] कोई नियम नहीं है : एक चक्षु से देखते हैं; दो चक्षु से भी देखते हैं। आभिधार्मिक कहते हैं: "दो चक्षु से भी दर्शन होता है; दो चक्षु जब विवृत हों तब दर्शन परिशुद्धतर होता है।" पुन:[३] जब एक चक्षु उन्मीलित है और दूसरा अर्धनिमीलित है तब दो चन्द्र के दर्शन होते हैं; न कि जब [८७] उन्मीलित चक्षु सर्वनिमीलित या अर्धनिमीलित होता है अथवा जब अर्धनिमीलित चक्षु को सर्वोन्मीलित या सर्वनिमीलित करते हैं।

आश्रय के द्वित्व होने से यह न समझना चाहिए कि दो चक्षुर्विज्ञान हैं क्योंकि रूप के समान विज्ञान रूपी नहीं है; अमूर्त होने से यह देशप्रतिष्ठित नहीं है।

हमने कहा है कि चक्षु देखता है, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, काय प्रत्येक अपने अपने विषय का ग्रहण करता है और मनस् जानता है। क्या यह इन्द्रिय अपने विषय को प्राप्त होते हैं [क्या यह अपने विषय के देश को प्राप्त होते हैं] ?

४३ सी-डी. चक्षु, श्रोत्र, मनस् अप्राप्त अर्थ का ग्रहण करते हैं। अन्य तीन इन्द्रियों के लिए अन्यथा है।[१]

---

यं च सामं ञातं तं च अतिधावन्ति, यं च लोके सच्चसंमतं तं च अतिधावन्ति।—इतिवुत्तक, ४९.

[२] उभाभ्यामपि [चक्षुर्भ्यां दर्शनम् शुद्धदर्शनात्]। [व्या० ८३.१०]
ज्ञानप्रस्थान, १, ८ के अनुसार; विभाषा, १३, २.
वात्सीपुत्रीयों के विरुद्ध—ऊपर १.४२ की टिप्पणी के अन्त में देखो।

[३] वसुबन्धु का तर्क, पंचवस्तुक, १.१०.

[१] [अप्राप्तार्थान्यक्षिमनःश्रोत्राणि] त्रयमन्यथा।
अत्थसालिनी, ६२९ से तुलना कीजिए।
विभाषा, १३ पृ. ६३, कालम, २, पंक्ति १३—कहते हैं कि दो अर्थ में प्राप्तविषयत्व होता है: या तो इसलिए कि यह विषयवत् गृहीत होता है या 'उपलब्ध' होता है, अथवा इसलिए कि विषय और इन्द्रिय का निरन्तरत्व है। प्रथम अर्थ में ६ इन्द्रियां विषय को प्राप्त होती हैं। दूसरे अर्थ में केवल तीन इन्द्रिय, घ्राण, जिह्वा और कायेन्द्रिय, विषय को प्राप्त होते हैं; इसके विपरीत तीन इन्द्रिय, चक्षु, श्रोत्र और मनस्, अप्राप्त अर्थ का ग्रहण करते हैं।
चक्षु आलोक के कारण रूप का ग्रहण करता है; जब रूप का इन्द्रिय-सान्निध्य होता है तब यह आलोक में प्रतिबन्ध होता है, तब चक्षु नहीं देखता। आकाश या आकाशधातु के कारण श्रोत्र शब्द का ग्रहण करता है; जब शब्द इन्द्रिय के समीप होता है तब यह आकाशधातु में प्रतिबन्ध नहीं होता : श्रोत्र सुनता है...... घ्राणेन्द्रिय वायु के कारण ग्रहण करता है;

(१) १. चक्षु दूर से रूप देखता है; यह आँख के अंजन को नहीं देखता। श्रोत्र दूर के शब्द को सुनता है।

मनस् के अरूपी होने से वह अपने विषय के देश को प्राप्त नहीं होता।

[८८] २. यदि चक्षु और श्रोत्र का प्राप्तविषयत्व हो तो मनुष्यों में ध्यायियों के दिव्य चक्षु और श्रोत्र न हों जैसे उनके दिव्य घ्राण नहीं होता (७.४२)।

आक्षेप—यदि चक्षु अप्राप्तविषय का दर्शन करता है तो वह अतिदूरस्थ या तिरस्कृत रूपों को क्यों नहीं देखता?[1]

उत्तर—अयस्कान्त सब अप्राप्त लोहे का क्यों नहीं आकर्षण करता? पुनः प्राप्तविषयत्व में भी समान कठिनाई है : चक्षु संप्राप्त अंजन, शलाकादि अर्थों को क्यों नहीं देखता? अथवा हम यह कहें कि चक्षु और घ्राण-जिह्वेन्द्रिय के लिए सामान्य नियम है : घ्राण प्राप्त गन्ध का ही ग्रहण करता है किन्तु वह सहभू गन्ध का ग्रहण नहीं करता; इसी प्रकार चक्षु दूरस्थ रूप को देखता है किन्तु सब दूरस्थ रूप को नहीं देखता।

कुछ आचार्यों के अनुसार क्योंकि कर्णाभ्यन्तर के शब्द सुन पड़ते हैं इसलिए यह परिणाम निकाला जा सकता है कि श्रोत्र प्राप्त शब्द सुनता है जैसे यह दूरस्थ शब्द भी सुनता है।[2]

३. अन्य तीन इन्द्रिय, घ्राण, जिह्वा, काय, प्राप्त विषय का ग्रहण करते हैं। घ्राण के लिए ऐसा इसलिए होता है क्योंकि गन्ध-ग्रहण के लिए उच्छ्वास आवश्यक है।[3]

(२) 'प्राप्त' का क्या अर्थ समझना चाहिए? जब कहते हैं कि इन्द्रिय स्वविषय को 'प्राप्त' होता है, 'प्राप्तविषय होकर' अपने विषय को जानता है तो इस कहने का क्या अभिप्राय है? 'प्राप्त होना' 'निरन्तरत्व में उत्पन्न होना' है, अविसंयोग की अवस्था में होना है।[4] विषय जो प्रतिक्षण पुनरुत्पन्न होता है (४.२ सी-डी),

---

अब्धातु के कारण जिह्वेन्द्रिय; पृथिवी के कारण कायेन्द्रिय; मनस्कार के कारण मन-इन्द्रिय।

फा-पाओ का कहना है कि चन्द्र का रूप चक्षु से निरन्तरत्व के लिए चन्द्र का त्याग नहीं करता।

आर्यदेव, शतक, २८८ से तुलना कीजिए।

[1] वैशेषिकों का आक्षेप।

[2] संघभद्र इस वाद का प्रतिषेध करते हैं; टाओ थाइ इसे साम्मितीयों का बताते हैं; फा पाओ इसे विभाषा के कुछ आचार्यों का बताते हैं।

[3] संघभद्र इस वाद का विचार करते हैं।

[4] यहां और नीचे (भदन्त का लक्षण, पृ० ९१) हमारे तिब्बती भाषान्तर का निरन्तर का अनुवाद दब्-छा-प है। किन्तु तिब्बती सिद्धान्त जिनका वर्णन वैसीलीफ (पृ० ३०७) ने किया है भदन्त के निरन्तर को अन्य वादियों के निरन्तर के विपक्ष में रखते हैं। बोधिचर्यावतार, पृ० ५१६ के अनुसार इन्द्रिय और विषय का न सान्तर (सव्यवधान) है, न निरन्तर।

[८९] इन्द्रिय के साथ निरन्तरत्व में उत्पन्न पाया जाता है और अन्योन्य।

[निरन्तरत्व से क्या समझना चाहिए? भदन्त के अनुसार, एक दूसरे के पास इस तरह होना जिसमें दोनों में अन्तर न हो; वैभाषिक के अनुसार, सांनिध्य, व्यवधान का अभाव[1]]।

(३) प्रश्न है कि परमाणु स्पर्श करते हैं या नहीं।

१. काश्मीर वैभाषिक (विभाषा, १३२, १) कहते हैं कि परमाणु स्पर्श नहीं करते: (१) यदि परमाणु साकल्येन स्पर्श करते तो द्रव्य अर्थात् विभिन्न परमाणु मिश्रीभूत होते अर्थात् एकदेशीय होते, (२) यदि परमाणु एक देश में स्पर्श करते तो उनके अवयव होते किन्तु परमाणु के अवयव नहीं होते।[2]

किन्तु यदि परमाणुओं में स्पर्श नहीं होता तो शब्द की अभिनिष्पत्ति कैसे होती है?

इसी कारण शब्द संभव है क्योंकि स्पर्श नहीं होता: यदि परमाणुओं का स्पर्श होता तो हाथ से अभ्याहत होने पर हाथ उसमें सक्त हो जाता; पत्थर से अभ्याहत होने पर पत्थर उसमें मिल जाता, जैसे लाक्षा लाक्षा में घुल-मिल जाती है। और शब्द की अभिनिष्पत्ति न होती। किन्तु यदि परमाणु स्पर्श नहीं करते तो संचित या परमाणुओं का संहात प्रत्याहत होने पर

[९०] विशीर्ण क्यों नहीं होता? क्योंकि वायुधातु संघात को संचित करता है या उसका संधारण करता है। एक वायुधातु का कार्य प्रसर्पण है यथा लोकसंवर्तनी वायु; एक वायुधातु का कार्य संचित करना है यथा विवर्तन काल की वायु (३.९१, १००)।[1]

---

[1] संघभद्र (२३.३, ४२ ए १): 'प्राप्त' का क्या अर्थ है? जब विषय की उत्पत्ति इन्द्रिय के सांनिध्य में होती है तब यह उसका ग्रहण करता है। इस प्रकार यदि द्रव्यों को समझना हो तो कह सकते हैं कि घ्राण, जिह्वा और काय प्राप्त विषय का ग्रहण करते हैं; जैसे कहते हैं कि चक्षु वर्त्म, शलाका और अन्य प्राप्त रूपों को नहीं देखता। वर्त्म चक्षु का स्पर्श नहीं करता किन्तु कहते हैं कि चक्षु उसको प्राप्त करता है। क्योंकि वर्त्म की उत्पत्ति चक्षु के सांनिध्य में होती है इसलिए कहते हैं कि यह इसको प्राप्त होता है। क्योंकि चक्षु इस प्रकार संप्राप्त रूप को नहीं देखता इसलिए कहते हैं कि चक्षु अप्राप्त का, न कि प्राप्त का, ग्रहण करता है। पुनः यह अतिदूरस्थ विषय का ग्रहण नहीं करता। इसी प्रकार यद्यपि घ्राण प्राप्त विषय का ग्रहण करता है तथापि यह अति आसन्न का ग्रहण नहीं करता।

[2] वसुबन्धु के विंशक, १२-१४ से तुलना कीजिए; बोधिचर्यावतार, पृ० ५०३; प्रशस्तपाद, पृ०.४३ इत्यादि।

[1] विभाषा, १३२, १ के अनुसार। क्या परमाणु अन्योन्य का स्पर्श करते हैं?—वह स्पर्श नहीं करते। यदि वह स्पर्श करते तो वह सर्वात्मना स्पर्श करते या एकदेशेन स्पर्श करते। यदि वह सर्वात्मना स्पर्श करते तो द्रव्यों का मिश्रीभाव होता। यदि एक देश में स्पर्श होता तो परमाणु के सावयव होने का प्रसंग होता। किन्तु परमाणु के अवयव नहीं होते। [व्या० ८५.२]

किस प्रकार संघात एक दूसरे को प्रत्याहत करते हुए एक दूसरे से वियुक्त नहीं होते? वह वियुक्त नहीं होते क्योंकि वायुधातु उनका संधारण करता है। किन्तु क्या वायुधातु वियुक्त नहीं करता?—कभी करता है, यथा कल्प के अन्त में। कभी

२. [वैभाषिक अपने वाद का उपाख्यान जारी रखते हैं]।[२]

तीन इन्द्रियों के बारे में कहा जाता है कि यह प्राप्तविषय हैं क्योंकि विषय का इनके साथ निरन्तरत्व है। निरन्तरत्व क्या है? निरन्तरत्व इसमें है कि इनके मध्य में कुछ नहीं है (तदेवैषां निरन्तरत्वम् यत् मध्ये नास्ति किंचित्)। यही 'प्राप्त' का भी अर्थ है। पुनः क्योंकि संघात के अवयव होते हैं इसलिए इसमें कोई दोष नहीं है कि संघात स्पर्श करते हैं। और इस दृष्टि से विभाषा के व्याख्यान (७३, १६) युक्त हैं: क्या स्पृष्ट स्पृष्टहेतुक है या अस्पृष्टहेतुक है?"

[९१] यही प्रश्न अस्पृष्ट के लिए है। "इसका आत्यन्तिक उत्तर नहीं हो सकता। कभी अस्पृष्ट स्पृष्टहेतुक होता है जब स्पृष्ट विशीर्ण होता है। कदाचित् स्पष्ट अस्पृष्टहेतुक होता है, जब अस्पृष्ट चय को प्राप्त होता है। कदाचित् स्पृष्ट स्पृष्टहेतुक होता है, जब संघातों का चय होता है। कदाचित् अस्पृष्ट अस्पृष्टहेतुक होता है। यथा गवाक्ष के आकाशधातु में अवलम्बमान रजः कण।"

भदन्त वसुमित्र कहते हैं:"यदि परमाणुओं का स्पृष्टि-योग होता तो उनका उत्तर क्षण में अवस्थान होता।"[१]

(४) वसुबन्धु के मत--१. भदन्त कहते हैं कि 'परमार्थ में स्पर्श नहीं होता। जब उनका निरन्तरत्व होता है तो उपचार से कहते हैं कि परमाणु स्पर्श करते हैं" (विभाषा, १३२, १ में उद्धत, पृ. ९० की टिप्पणी के अन्त में देखिए।) यह मत इष्ट है।[२] वास्तव में यदि परमाणुओं के बीच अन्तर, अवकाश होता तो अन्तरों के आकाशधातु होने से वह क्या है जो शून्य अन्तरों में सान्तर परमाणुओं की गति को प्रतिबद्ध करता? हम मानते हैं कि परमाणु सप्रतिघ हैं।[३]

---

यह संधारण करता है, यथा कल्प के आरंभ में।
यदि परमाणु स्पर्श नहीं करते तो प्रतिघात से शब्द की अभिनिष्पत्ति कैसे होती है?--इसी कारण शब्द की उत्पत्ति होती है। क्योंकि यदि परमाणुओं का स्पर्श होता तो शब्द की उत्पत्ति कैसे होती? यदि परमाणुओं का स्पर्श होता तो हाथ और जिस शरीर का यह अभिघात करता दोनों का मिश्रीभाव होता और कोई स्वतन्त्र प्रदेश न होता; उस अवस्था में शब्द की उत्पत्ति कैसे होती? वसुमित्र कहते हैं कि "परमाणु स्पर्श नहीं करते: यदि वह स्पर्श करते तो उत्तर क्षण तक उनका अवस्थान होता।" भदन्त कहते हैं: वास्तव में कोई स्पृष्टि नहीं है; जब परमाणुओं की उत्पत्ति निरन्तरत्व में होती है तब संवृतिसत्य के अनुसार स्पृष्ट संज्ञा होती है। क्या स्पृष्ट स्पृष्टहेतुक होता है? ......

[२] विभाषा, १३२, पृ०. ६८४, कालम १, पंक्ति ११.

[१] उनको स्पृष्टि-योग के लिए (द्वितीय क्षण) उत्पन्न होना होता है (प्रथम क्षण)। वसुमित्र का मत कूई-की की विंशिका, ३. ११ बी में उद्धृत हुआ है।

[२] वसुबन्धु का मत है कि भदन्त 'निरन्तरत्व' से यह समझते हैं कि परमाणुओं के बीच अन्तर नहीं होता। हम देखेंगे कि संघभद्र का भिन्न मत है।

[३] वसुबन्धु के लिए परमाणु का निरन्तरत्व है। उनका कभी मिश्रीभाव नहीं होता क्योंकि सप्रतिघ होने से वह निरन्तरत्व के होते हुए भी पृथक् अवस्थान करते हैं। पृ०. २५ देखिए

[९२] २. संघात परमाणु से अन्य नहीं हैं। यह वही परमाणु हैं जो संघात की अवस्था में स्पृष्ट होते हैं यथा उनका रूपण होता है (१.१३)। (संघाते स्पृश्यन्ते यथा रूप्यन्ते।) अतः इसका निषेध करना कि परमाणु स्पृष्ट होते हैं और यह स्वीकार करना कि संघात स्पृष्ट होते हैं अयुक्त है।

३. यदि आप परमाणु के दिग्भागभेद की कल्पना करते हैं तो स्पृष्ट और अस्पृष्ट परमाणु के सावयत्व का प्रसंग होता है। यदि आप इसका निषेध करते हैं तो हम नहीं देखते कि स्पृष्ट परमाणु का भी सावयत्व क्यों हो।[1]

**त्रिभिर्घ्राणादिभिस्तुल्यविषयग्रहणं मतम्।**
**चरमस्याश्रयोऽतीतः पंचानां सहजश्च तैः॥४४॥**

---

(अनुवादक का नोट) यह संघभद्र का प्रधान व्याख्यान है।
न्यायानुसार, १.४३ सी-डी (फ़ोलिओ ४३ ए १७) : भदन्त कहते हैं कि "परमाणु स्पर्श नहीं करते; उपचार से कहते हैं कि वह स्पर्श करते हैं, क्योंकि उनका नैरन्तर्येण अवस्थान है।" सौत्रान्तिक (अर्थात् वसुबन्धु) यह सूचित करते हुए कि यह सुष्ठु वाद है कहते हैं कि "यह वाद सुष्ठु है। अन्यथा परमाणु सान्तर होंगे। यह सान्तर आकाशधातु हैं। अतः परमाणुओं की (एक दूसरे के प्रति) गति को कौन प्रतिबद्ध करेगा? हम मानते हैं कि वह सप्रतिघ हैं।" भदन्त के इस मत का न अभिनन्दन करना चाहिए न उसकी गर्हा करनी चाहिए। केवल इसकी परीक्षा होनी चाहिए कि स्पर्श के बिना सान्तर का अभाव कैसे हो सकता है: युक्ति के स्पष्ट न होने से इस वाद का समझना कठिन है। यदि यह कहते हैं कि परमाणुओं में सान्तर का सर्वथा अभाव होता है और वह कभी मिश्रित नहीं होते तो उनका सावयव होना आवश्यक है। यह अयथार्थ मत है। पुनः यदि 'निरन्तर' का अर्थ 'बिना अन्तर' के (अनन्तर) है तो परमाणु कैसे स्पर्श नहीं करते? अतः 'निरन्तर' शब्द का अर्थ 'सांनिध्य' है। 'निस्' उपसर्ग का अर्थ 'निश्चय' है। क्योंकि निश्चित रूप से अन्तर है इसलिए परमाणु 'निरन्तर' हैं, 'अन्तरों के साथ' हैं: यथा निर्दहति "वह जलाता है"। अथवा 'निस्' उपसर्ग का अर्थ 'अभाव' है। परमाणु 'निरन्तर' कहलाते हैं क्योंकि उनके बीच कोई परमाणु के परिमाण का स्पृष्ट रूप नहीं है। जब महाभूत के परमाणु एक दूसरे के सांनिध्य में बिना अन्तर के उत्पन्न होते हैं तो उपचार से कहते हैं कि वह स्पर्श करते हैं। यदि भदन्त का यह अर्थ है तो हम उसका अभिनन्दन करते हैं। ......

[1] संघभद्र इस परिच्छेद को उद्धृत करते हैं (सौत्रान्तिक कहता है कि "यदि तुम मानते हो ....) और पुनः कहते हैं: यह यथार्थ नहीं है। "सावयवत्व" 'दिग्भाग-भेदत्व' यह एक ही भाव के लिए दो शब्द हैं। जब कोई कहता है कि 'परमाणु निरवयव' है' तो इसी से यह भी उक्त होता है कि इसका दिग्भागभेद नहीं हो सकता। आप इस विषय में संदिग्ध कैसे हो सकते हैं और यह कैसे कह सकते हैं कि "यदि आप दिग्भाग-भेद की कल्पना करते हैं.. ....."? क्योंकि परमाणुओं का यह भाग नहीं हो सकता तो वह स्पृष्ट कैसे हो सकते हैं?
हमने बताया है कि स्पर्श सर्वात्मना हो सकता है या एकदेशेन हो सकता है। अतः परमाणु जिसका दिग्भागभेद नहीं हो सकता, स्पृष्ट नहीं हो सकता। अतः आप यह कैसे कह सकते हैं कि 'यदि तुम दिग्भागभेद का निषेध करते हो तो इसमें कोई दोष नहीं है कि परमाणु स्पृष्ट होते हैं।"—अतः परमाणु 'निरन्तर' कहलाते हैं क्योंकि उनके बीच परमाणु के परिमाण का कोई स्पृष्ट रूप नहीं है।"
२.२२ और भूमिका देखिए।
इस सारे विवाद पर संघभद्र, ७, डाकुमेण्ट्स आफ अभिधर्म देखिए।

क्या हम को यह मानना चाहिए कि इन्द्रिय आत्मपरिमाणतुल्य विषय का ही ग्रहण करते हैं—यदि हम यह मानते हैं कि पर्वत के समान महत् अर्थ का सकृत् ग्रहण भ्रम से होता है, तो यह ऐसा इसलिए लक्षित होता है क्योंकि हम पर्वत के प्रदेशों को आशुवृत्या देखते हैं:

[९३] यथा अलात चक्र का ग्रहण होता है;—अथवा इन्द्रिय निरपेक्षभाव से आत्म-परिमाणतुल्य और स्वपरिमाण के अतुल्य अर्थ का ग्रहण करते हैं?

४४ ए-बी. घ्राणादि तीन इन्द्रिय तुल्य परिमाण के विषय का ग्रहण करते हैं।[1]

इन्द्रिय के नियतसंख्यक परमाणु विषय के समान संख्यक परमाणुओं को प्राप्त कर विज्ञान का उत्पाद करते हैं। घ्राण, जिह्वा, और काय के लिए ऐसा समझना चाहिए। किन्तु चक्षु और श्रोत्र के लिए कोई नियम नहीं है। कभी विषय इन्द्रिय से स्वल्प होता है, जब बालाग्र को देखते हैं; कभी इन्द्रियतुल्य होता है, जब द्राक्षाफल का दर्शन करते हैं। कभी इन्द्रिय से बड़ा होता है, जब उन्मिषितमात्र चक्षु से पर्वत को देखते हैं। शब्द के लिए यही है: कदाचित् मशक शब्द सुनते हैं, कदाचित् मेघ शब्द सुनते हैं इत्यादि। मन इन्द्रिय के लिए जो अरूपी है प्रश्न नहीं होता।

[यहां इन्द्रियसम्बन्धी कुछ प्रश्न उपस्थित होते हैं।]

१. विविध इन्द्रियों के परमाणुओं का सन्निवेश कैसे होता है? चक्षु के परमाणु अजाज्रीपुष्प (कालजीरकपुष्प) के समान चक्षुगोलक पर अवस्थित होते हैं अर्थात् एक तल में अवस्थित होते हैं। वह अच्छ वर्ण के चर्म से अवनद्ध होते हैं जो उनके प्रसर्पण में प्रतिबन्ध है। एक दूसरे मत के अनुसार वह एक गुटिका के तुल्य गंभीर संनिविष्ट हैं; स्फटिक के तुल्य अच्छ होने से वह दूसरे को अन्तरित नहीं करते।[2]

श्रोत्रेन्द्रिय के परमाणु भूर्ज के अभ्यन्तर में अवस्थित हैं। कर्ण के अभ्यन्तर में भूर्जपत्र के वर्ण और आकार का भूर्ज पाया जाता है। घ्राणेन्द्रिय के परमाणु घाटा (नासापुटी) के अभ्यन्तर में अवस्थित होते हैं।

[९४] यह पहले तीन इन्द्रिय मालावत् अवस्थित हैं।[1]

जिह्वेन्द्रिय के परमाणु अर्धचन्द्र के आकार में जिह्वा के ऊर्ध्व तल पर अवस्थित हैं। जिह्वा के मध्य में बालाग्र मात्र प्रदेश इन्द्रिय के परमाणुओं से अस्तृत (व्याप्त) नहीं है। आगम में यह मत व्यक्त किया गया है।[2]

---

[1] हम इस पंक्ति का उद्धार कर सकते हैं:
घ्राणादिभिस्त्रिभिस्तुल्यविषयग्रहणं मतम्।
विभाषा, १३, ८ के अनुसार।

[2] पहला मत सर्वास्तिवादियों का है।

[1] मालावदवस्थित = मंडलेन समपंक्त्यावस्थित [व्या० ८६.७]

[2] भाष्य में 'किल' है। सामान्यतः वसुबन्धु 'किल' शब्द से वैभाषिकों के सदोष मत को घोषित करते हैं किन्तु यहां व्याख्या कहती है: आगमसूचनार्थः किल शब्दः। [व्या० ८६.८]

कायेन्द्रिय के परमाणु काय के संस्थान के होते हैं।

स्त्रीन्द्रिय के परमाणु भेरी तुल्य होते हैं।

पुरुषेन्द्रिय के परमाणु अंगुष्ठतुल्य होते हैं।

२. चक्षुरिन्द्रिय के परमाणु सर्वात्मना सभाग (१.३९) हो सकते हैं; सर्वात्मना तत्सभाग हो सकते हैं; कोई सभाग, कोई तत्सभाग हो सकते हैं। श्रोत्र, घ्राण और जिह्वेन्द्रिय के लिए भी यही है। किन्तु कायेन्द्रिय के परमाणु सब सभाग नहीं होते; जब प्रतपन नरक (३.५९) की ज्वाला से शरीर व्याप्त होता है तब भी अनन्त परमाणु तत्सभाग होते हैं क्योंकि सिद्धांत कहता है कि यदि काय के सब परमाणु एक ही समय क्रियाशील हों तो काय विशीर्ण हो जाय।

३. ऐसा नहीं होता कि विज्ञान का उत्पाद इन्द्रिय के एक परमाणु और विषय के एक परमाणु से हो। वास्तव में पांच प्रकार के विज्ञान के ५ आश्रय और आलम्बन संचित होते हैं।

इससे यह परिणाम निकलता है कि परमाणुओं का ग्रहण नहीं होता; इसलिए उन्हें 'अनिदर्शन' कहते हैं (१.२० ए-बी, ४.४ से तुलना कीजिए)।

पहले पांच विज्ञानों के विषय उनके सहभू हैं। षष्ठ विज्ञान का विषय उसके पूर्व का, सहोत्पन्न या अपर है। दूसरे शब्दों में यह अतीत, प्रत्युत्पन्न या अनागत (१.२३) है। विज्ञानों के आश्रय के सम्बन्ध में भी क्या ऐसा ही है?

[९५] ४४ सी-डी. षष्ठ विज्ञान का आश्रय अतीत है; प्रथम पांच का आश्रय सहज भी है।[1]

मनोविज्ञान का एकमात्र आश्रय मनोधातु है अर्थात् अतीत विज्ञान है (१.१७)।

५ विज्ञानकायों का आश्रय उनका सहज भी है अर्थात् यह विज्ञान के पूर्व का और सहज दोनों है। वास्तव में ५ विज्ञानकायों का आश्रय द्विविध है: १. चक्षुरादि इन्द्रिय जो विज्ञान का सहभू है; २. मन-इन्द्रिय जो विज्ञानोत्पत्ति के क्षण में अतीत होता है।

अतः ५ विज्ञानकायों के दो आश्रय होते हैं।

प्रश्न है कि क्या चक्षुर्विज्ञान का आश्रय इस विज्ञान का समनन्तरप्रत्यय (२.६२) भी है। चार कोटि हैं: १. चक्षु जिसका केवल आश्रयभाव है; २. वेदनादि (२.२४) अतीत चैतसिक धर्मधातु: यह केवल समनन्तरप्रत्यय हैं; ३. अतीत विज्ञान या मनस् जो आश्रय और समनन्तरप्रत्यय इन उभय लक्षणों से युक्त है;

४. कोटित्रयनिर्मुक्त अन्य धर्म।

श्रोत्रविज्ञान, घ्राण०, जिह्वा० और कायविज्ञान के लिए भी ऐसा ही है। मनोविज्ञान का पूर्वपादक है: मनोविज्ञान का जो आश्रय होता है वह इस विज्ञान का सदा समनन्तरप्रत्यय

---

[1] **चरमस्याश्रयोऽतीतः पंचानां सहजश्च तैः॥** [व्या० ८६.११]

होता है किन्तु जिसका समनन्तर-प्रत्ययभाव होता है उसका आश्रयभाव नहीं होता : अतीत चैतसिक धर्मधातु आश्रय नहीं हैं।

**तद्विकारविकारित्वादाश्रयाश्चक्षुरादयः।**
**अतोऽसाधारणत्वाच्च विज्ञानं तैर्निरुच्यते ॥४५॥**

चक्षुर्विज्ञान चक्षु और रूप पर आश्रित है। विषय को वर्जित कर इन्द्रिय को क्यों विज्ञान का आश्रय अवधारित करते हैं?

[९६] ४५ ए-बी. विज्ञान का आश्रय इन्द्रिय है क्योंकि इन्द्रिय के विकार से विज्ञान में विकार होता है।[1]

जब चक्षु का अनुग्रह होता है (अंजनादि प्रयोग), जब चक्षु का रेणु आदि से उपघात होता है, जब वह पटु होता है, जब वह मन्द होता है तब विज्ञान में उस विकार का अनुविधान होता है, वह सुख-दुःखोत्पाद से सहगत होता है, वह यथाक्रम पटु या मन्द होता है। इसके विपरीत विज्ञान की अवस्था पर विषय का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। अतः इन्द्रिय, न कि विषय, विज्ञान का आश्रय है (२.२ ए-बी)।

विज्ञान विषय को जानता है। उसे इन्द्रिय के नाम से क्यों संज्ञित करते हैं: चक्षुर्विज्ञान ......मनोविज्ञान; विषय के नाम से क्यों प्रज्ञप्त नहीं करते : रूपविज्ञान......धर्मविज्ञान ?

४५ सी-डी. अतः और इसलिए भी क्योंकि यह 'असाधारण' है इन्द्रिय के नाम पर विज्ञान का नाम पड़ता है।[2]

इस हेतु से कि इन्द्रिय उसका आश्रय है विज्ञान का निर्देश इन्द्रिय से करते हैं।

क्योंकि इन्द्रिय 'असाधारण' है : एक पुद्गल का चक्षु केवल उस पुद्गल के चक्षुर्विज्ञान मात्र का आश्रय है। इसके विपरीत रूप साधारण है क्योंकि रूप का ग्रहण चक्षुर्विज्ञान और मनोविज्ञान से होता है, एक पुद्गल से और अन्य पुद्गल से होता है।—श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा और कायेन्द्रिय तथा शब्द, गन्ध, रस, स्प्रष्टव्य इन विषयों के लिए भी यही योजना होनी चाहिए। हम निष्कर्ष निकालते हैं कि विज्ञान का नाम इन्द्रिय से निर्दिष्ट होता है क्योंकि इन्द्रिय उसका आश्रय है, क्योंकि इन्द्रिय असाधारण है। विषय के लिए ऐसा नहीं है। लोक में कहते हैं :

'भेरी-शब्द', दण्ड-शब्द नहीं कहते; 'यवांकुर' कहते हैं, क्षेत्रांकुर नहीं कहते।

[९७] सत्त्व कामधातु या प्रथम ध्यानादि भूमि में उत्पन्न होता है। वह उस भूमि का होता है और उस का काय अमुक भूमिक होता है। वह चक्षु से रूप देखता है। प्रश्न है कि काय, चक्षु, रूप और विज्ञान एक ही भूमि के होते हैं या भिन्न भूमि के।

---

[1] **तद्विकारविकारित्वादाश्रयश्चक्षुरादयः।** [व्या० ८६.३२]
**विभाषा, ७१, १४ के अनुसार।**

[2] **अतोऽसाधारणत्वाच्च [तैर्विज्ञानम्......]। [व्याख्या ८७.१८]**

सब भिन्न भूमि के हो सकते हैं।

१. जब कामधातु में उपपन्न सत्त्व स्वभूमि के चक्षु से स्वभूमि के रूप देखता है तो काय, इन्द्रिय, रूप और विज्ञान एक ही भूमि के होते हैं।

जब यह सत्त्व प्रथमध्यानभूमिक चक्षु से स्वभूमिक रूप देखता है तो काय और रूप कामधातु के होते हैं तथा इन्द्रिय और विज्ञान प्रथमध्यानभूमिक होते हैं। यदि वह इसी चक्षु से प्रथमध्यानभूमिक रूप देखता है तो केवल काय कामधातु का होता है, अन्य तीन प्रथम-ध्यानभूमिक होते हैं।

जब यह सत्त्व द्वितीयध्यानभूमिक चक्षु से कामधातु के रूप देखता है तो काय और रूप कामधातु के होते हैं, इन्द्रिय द्वितीय ध्यान का और विज्ञान प्रथम ध्यान का होता है। यदि वह इसी चक्षु से द्वितीयध्यानभूमिक रूप देखता है तो काय कामधातु का होता है, इन्द्रिय और रूप द्वितीय ध्यान के तथा विज्ञान प्रथम ध्यान का होता है (८.१३ ए-सी)।

इसी प्रकार उन कोटियों की योजना करनी चाहिए जिनमें कामधातु में उपपन्न सत्त्व तृतीय-चतुर्थध्यानभूमिक चक्षु से तद्भूमिक या अधरभूमिक रूप देखता है।

२. जब प्रथम ध्यान में उपपन्न सत्त्व तद्भूमिक चक्षसे तद्भूमिक रूप देखता है तो काय, इन्द्रिय, रूप और विज्ञान एक ही भूमि के होते हैं। यदि वह इसी चक्षु से अधरभूमिक रूप देखता है तो काय, इन्द्रिय और विज्ञान स्वभूमि के, प्रथम ध्यान के, होते हैं।

जब यह सत्त्व द्वितीय ध्यान-चक्षु से स्वभूमि के रूप देखता है तो तीन स्वभूमि (प्रथम ध्यान) के होते हैं, इन्द्रिय द्वितीय ध्यान का होता है। यदि वह इसी चक्षु से कामधातु के [९८] रूप देखता है तो काय और विज्ञान स्वभूमि के (प्रथम ध्यान) होते हैं, रूप अधरभूमिक होता है, इन्द्रिय द्वितीयध्यानभूमिक होता है। यदि वह इसी चक्षु से द्वितीयध्यानभूमिक रूप देखता है तो काय और विज्ञान स्वभूमि के (प्रथम ध्यान) होते हैं, इन्द्रिय और रूप द्वितीय ध्यान के होते हैं।

इसी प्रकार उन कोटियों की योजना होनी चाहिए जिनमें प्रथमध्यानोपपन्न सत्त्व तृतीय-चतुर्थ-ध्यान-चक्षु से तद्भूमिक या अधरभमिक रूप देखता है।

३. इन्हीं नियमों के अनुसार इनकी भी योजना होनी चाहिए : जब एक द्वितीय-तृतीय-चतुर्थध्यानोपपन्न सत्व स्वभूमि या भिन्न भूमि के चक्षु से स्वभूमि या भिन्न भूमि के रूप देखता है। नियम यह है :

**न कायस्याधरं चक्षुरूर्ध्वं रूपं न चक्षुषः।**
**विज्ञानं चास्य रूपं तु कायस्योभे च सर्वतः ॥४६॥**

४६. चक्षु काय से अधर नहीं है; रूप चक्षु से ऊर्ध्व नहीं है; विज्ञान चक्षु से ऊर्ध्व नहीं है; रूप विज्ञान के सम्बन्ध में तथा रूप और चक्षुर्विज्ञान काय के सम्बन्ध में सर्व प्रकार

का है।[१] काय, चक्षु, रूप पंचभूमिक हैं : कामधातु, ४ ध्यान। चक्षुर्विज्ञान द्विभूमिक है: कामधातु और प्रथम ध्यान (८.१३ ए-सी)।

जिस चक्षु का उपयोग एक सत्त्व करता है वह उस सत्त्व के काय की भूमि का हो सकता है अर्थात् उस भूमि का हो सकता है जहां यह सत्त्व उपपन्न होता है; यह ऊर्ध्वभूमि का हो सकता है; यह अधर भूमि का नहीं होता। रूप और विज्ञान, इन्द्रिय के सम्बन्ध में, एक ही भूमि के होते हैं या अधर भूमि के होते हैं; ऊर्ध्व भूमि के कभी नहीं होते। ऊर्ध्वभूमिक रूप अधर भूमि के चक्षु से नहीं देखा जा सकता। ऊर्ध्वभूमिक चक्षुर्विज्ञान अधरभूमिक चक्षु से उत्पन्न नहीं हो सकता। रूप, चक्षुर्विज्ञान के सम्बन्ध में, सम, ऊर्ध्व और अधर होता है।

[९९] रूप और चक्षुर्विज्ञान काय के सम्बन्ध में वैसे ही हैं जैसा रूप विज्ञान के सम्बन्ध में है अर्थात् सम, ऊर्ध्व, अधर हैं।

४७ ए. श्रोत्र का भी ऐसा ही है।[१]

**तथा श्रोत्रं त्रयाणां तु सर्वमेव स्वभूमिकम्।**
**कायविज्ञानमधरस्वभूम्यनियतं मनः ॥४७॥**

श्रोत्रेन्द्रिय काय से अधर नहीं है, शब्द श्रोत्रेन्द्रिय से ऊर्ध्व नहीं है और न श्रोत्र-विज्ञान। शब्द विज्ञान के सम्बन्ध में, शब्द तथा विज्ञान काय के सम्बन्ध में, सर्व प्रकार के होते हैं:

४७ ए-बी. तीन इन्द्रियों के लिए सब स्वभूमिक हैं।[२]

घ्राण, जिह्वा और कायेन्द्रिय के लिए काय, इन्द्रिय, विषय और विज्ञान केवल स्वभूमिक हैं अर्थात् उस भूमि के हैं जहां सत्व उपपन्न हुआ है।

इस सामान्य नियम के बताने के पश्चात् आचार्य एक अपवाद सूचित करते हैं।

४७ सी-डी. कायविज्ञान स्वभूमिक या अधरभूमिक होता है।[३] काय, कामधातु और स्प्रष्टव्य सदा उस भूमि के होते हैं जहां सत्त्व उपपन्न होता है। किन्तु कायविज्ञान (१) स्वभूमिक होता है जब सत्व कामधातु में या प्रथम ध्यान में उपपन्न होता है; (२) अधरभूमिक (प्रथम ध्यान) होता है जब सत्त्व द्वितीय ध्यान में या ऊर्ध्व उपपन्न होता है।

४७ डी. मन नियमित नहीं है।[४]

---

[१] **न कायस्याधरं चक्षुरूर्ध्वं रूपं न चक्षुषः।**
**विज्ञानं चास्य रूपं तु कायस्योभे च सर्वतः॥** [व्या० ८८.७]
७.१०७, ८.१५४ देखिए।

[१] **तथा श्रोत्रम्** [व्या० ८९.११]

[२] **त्रयाणां तु सर्वमेव स्वभूमिकम्।**

[३] **कायविज्ञानं अधरं स्वं चापि**

[४] **अनियतं मनः॥** [व्या० ८९.३४]

कभी मन-इन्द्रिय काय, धर्मधातु और मनोविज्ञान के भूमि का होता है ; कभी यह अधर या ऊर्ध्व होता है। पंचभूमिक—कामावचर और चतुर्ध्यानिक—काय में मनोधातु, धर्मधातु [१००] और मनोविज्ञान, समापत्ति काल में या उपपत्ति काल में, सर्वभूमिक होते हैं— सब भूमियां प्रत्येक अवस्था में समान नहीं होतीं। समापत्ति कोशस्थान में (८.१९ सी-डी) इसका व्याख्यान होगा । हम यहां इसका वर्णन संक्षेप के लिए नहीं करते ; लाभ कम है, कष्ट अधिक है।

**पंच बाह्या द्विविज्ञेया नित्या धर्मा असंस्कृताः।**
**धर्मार्धमिन्द्रियं ये च द्वादशाध्यात्मिकाः स्मृताः ॥४८॥**

१८ धातु और ६ विज्ञान हैं। किस विज्ञान से कौन धातु जाना जाता है ?

४८ ए. ५ बाह्यधातु दो विज्ञानों से विज्ञेय हैं।[1]

रूप, शब्द, गन्ध, रस और स्प्रष्टव्य चक्षुर्विज्ञान, श्रोत्र°, घ्राण°, जिह्वा° और कायविज्ञान से यथाक्रम अनुभूत होते हैं। यह सब मनोविज्ञान से विज्ञेय हैं । अतः इन बाह्य धातुओं में से प्रत्येक दो विज्ञानों से विज्ञेय है।

शेष १३ धातु पंच विज्ञानकाय के विषय नहीं हैं; अतः वह एक मनोविज्ञान से विज्ञेय हैं।

कितने धातु नित्य हैं ?

कोई धातु सर्वात्मना नित्य नहीं है। किन्तु

४८ बी. असंस्कृत नित्य धर्म हैं।[2]

असंस्कृत (१.५ बी) धर्मधातु (१.१५ सी) में संगृहीत हैं। अतः धर्मधातु का एक देश नित्य है।

कितने धातु इन्द्रिय हैं (२.१) ?

४८ सी-डी. १२ आध्यात्मिक धातु और धर्मधातु का एक देश इन्द्रिय हैं।[3]

[१०१] सूत्र[1] में २२ इन्द्रिय उक्त हैं : १. चक्षुरिन्द्रिय, २. श्रोत्रेन्द्रिय, ३. घ्राणेन्द्रिय, ४. जिह्वेन्द्रिय, ५. कायेन्द्रिय, ६. मन-इन्द्रिय, ७. पुरुषेन्द्रिय, ८. स्त्रीन्द्रिय, ९. जीवितेन्द्रिय, १०. सुखेन्द्रिय, ११. दुःखेन्द्रिय, १२. सौमनस्येन्द्रिय, १३. दौर्मनस्येन्द्रिय, १४. उपेक्षेन्द्रिय,

---

[1] पंच बाह्या द्विविज्ञेयाः [व्या० ९०.१८]

[2] नित्या धर्मा असंस्कृताः। [व्या० ९०.२२]
असंस्कृत नित्य हैं क्योंकि उनका अध्व-संचार नहीं है (अध्वसंचाराभावात्, ५.२५)— असंस्कृत, नित्य, ध्रुव (४.९) और द्रव्य (१.३८) समानार्थक हैं।

[3] धर्मार्ध इन्द्रियं ये च द्वादशाध्यात्मिकाः स्मृताः ॥ [व्याख्या ९०.२४]
एक दूसरे पाठ के अनुसार (केचित् पठन्ति): धर्मार्धम् [व्या० ९१.९]
धम्मसंगणि, ६६१ देखिए।

[1] व्याख्या में ब्राह्मणजाति श्रोण और भगवत् का संवाद उद्धृत है : इन्द्रियाणीन्द्रियाणि भो गौतम उच्यन्ते। कति भो गौतम इन्द्रियाणि। कियता चेन्द्रियाणां संग्रहो भवति...... [व्या० ९०.२९]

१५. श्रद्धेन्द्रिय, १६. वीर्येन्द्रिय, १७. स्मृतीन्द्रिय, १८. समाधीन्द्रिय, १९. प्रज्ञेन्द्रिय, २०. अनाज्ञातमाज्ञास्यामीन्द्रिय, २१. आज्ञेन्द्रिय, २२. आज्ञातावीन्द्रिय (पृ.११७ देखिए)।

आभिधार्मिक (प्रकरणपाद, फ़ोलिओ .३१ बी) चक्षुरायतन, श्रोत्र, घ्राण०, जिह्वा, काय० और मन-आयतन इस षडायतन-व्यवस्था का अनादर करते हैं। वह मन-इन्द्रिय को जीवितेन्द्रिय के अनन्तर, न कि कायेन्द्रिय के अनन्तर, पढ़ते हैं क्योंकि मन-इन्द्रिय वेदनेन्द्रिय (१०-१४) के समान सालम्बन (१.२९ बी-सी) है और पंचविज्ञानेन्द्रिय (१-५) के समान केवल सविषय नहीं है।[२]

[१०२] २२ इन्द्रियों में ११ अर्थात् जीवितेन्द्रिय (९), ५ वेदनेन्द्रिय (१०-१४), श्रद्धादि ५ इन्द्रिय (१५-१९) और अन्तिम तीन का भाग धर्म धातु के एक देश हैं।[१]

(१) पंच विज्ञानेन्द्रिय जो पाँच धातु और ५ इन्द्रिय हैं (१-५), (२) मन-इन्द्रिय (१.१६ सी) अर्थात् षष्ठ इन्द्रिय जो सप्त चित्त-धातु है और (३) अन्तिम तीन इन्द्रिय का एक भाग—यह १२ आध्यात्मिक धातु हैं। शेष पाँच धातु और धर्मधातु का एक प्रदेश इन्द्रिय नहीं हैं।

धातुनिर्देश समाप्त

---

२ इन्द्रियों का क्रम २.६ में युक्त सिद्ध किया है।
विभंग, पृ.१२२, कथावत्थु, अनुवाद पृ.१६, विसुद्धिमग्ग, १६ में हमारे सूत्र का क्रम पाया जाता है। ज्ञानप्रस्थान के छठे ग्रन्थ इन्द्रियस्कन्धक में भी (ताकाकुसु, अभिधर्म लिटरेचर, जे० पी० टी० एस. १९०५, पृ.९३)।
अनुरुद्ध के क्षुद्र ग्रन्थ (काम्पेण्डियम पृ.१७५) का क्रम वही है जो प्रकरणपाद का है।
महाव्युत्पत्ति (१०८) की सूची में जीवितेन्द्रिय सब के अन्त में है।

१ अन्तिम तीन इन्द्रिय (१-३) तीन वेदनेन्द्रिय, (४-८) श्रद्धादि पांच इन्द्रिय, (९) मन-इन्द्रिय (२.४) हैं। १-८ धर्मधातु हैं।